नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६०] संवत् २०१२ [अंक २

संस्कृतसाहित्य के कुछ पारिभाषिक शब्द

[श्री रामशंकर भट्टाचार्य]

आज राष्ट्रभाषा के लिये पारिभाषिक शब्दों की रचना एक विचार्य विषय है। इस विषय में संस्कृत साहित्य के पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन आवश्यक तथा उपादेय होगा—ऐसा समझकर यह निबंध लिखा जा रहा है।

वस्तुतः किसी भी शास्त्र का प्रणयन पारिभाषिक शब्दों के बिना कदापि नहीं हो सकता।[1] यदि शास्त्र को लघु, संयत और सुज्ञेय करना है तो शास्त्रकार को पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना ही होगा। इन पारिभाषिक शब्दों की महत्ता के विषय में हमारे पूर्वाचार्य सावधान थे और उन्होंने पारिभाषिक शब्दों के लक्षण, प्रकार, निर्माणपद्धति आदि विषयों पर कुछ विचार भी यत्र तत्र किया है। इस निबंध में उन विचारों का संक्षिप्त संकलन किया जा रहा है।

---

१ - यद्यपि पारिभाषिक शब्दों के बिना शास्त्ररचना अशक्य है, तथापि यह प्रसिद्धि है कि वैयाकरण चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में संज्ञा शब्दों का व्यवहार स्वेच्छा से नहीं किया था। प्रसिद्धि है 'चन्द्रोपज्ञम् असंज्ञकम् व्याकरणम्' (चान्द्रव्याकरण संज्ञा = पारिभाषिक शब्द से शून्य है)। पर जब हम चान्द्र-व्याकरण कीअंतरंग समीक्षा करते है तब देखते है कि चन्द्र को बाध्य होकर कहीं कहीं संज्ञाशब्दों का प्रयोग करना पड़ा है (द्र० तिङन्त प्रकरण)। चान्द्रव्याकरण के असंज्ञकत्व का तात्पर्य इतना ही है कि पाणिनीय व्याकरण के समान 'चान्द्र' में कृत्रिम संज्ञा शब्दों का बाहुल्य नहीं है।

लक्षण — पूर्वाचार्यों के अनुसार पारिभाषिक शब्द उसी को कहा जाता है, जो केवल शास्त्रव्यवहार्य हो तथा शास्त्रकार द्वारा संकेतित अर्थ का वाचक हो। पारिभाषिक शब्द के जितने भेद हैं, उन सबों में यह लक्षण सम्यक् रूप से चरितार्थ होता है। **'शास्त्रे संकीर्त्यमानः शब्दः'** शास्त्रीय संज्ञा का सामान्य लक्षण है। यह संज्ञा उद्देश्य-विशेष के लिये बनाई जाती है। निष्प्रयोजन संज्ञा का निर्माण नहीं होता [संज्ञा या पारिभाषिक शब्द के विषय में पूर्वाचार्य कहते हैं—**'व्यवहारार्थं शास्त्रे कृतः संकेतः संज्ञा'**]। वस्तुतः जो शब्द शास्त्रमात्रव्यवहार्य तथा शास्त्रकार-संकेतित अर्थ को ही कहे, वही 'पारिभाषिक' शब्द है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी 'संज्ञा' (पारिभाषिक शब्द) ऐसी भी होती है जिसका व्यवहार संप्रदाय में तो है, अर्थात् शब्द व्यवहार में तो प्रयुक्त होता है पर शास्त्र के ग्रंथों में उसका प्रयोग नहीं है। शास्त्रकार व्यवहार तो करता है, किंतु शास्त्र में लिखित नहीं है—ऐसा कथन सहसा विश्वास-योग्य नहीं होता, पर पाणिनि के **'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः'** (६ । ३ । ७) सूत्र से निष्पन्न संज्ञा में यह बात सुप्रमाणित होती है। यहाँ जिनेन्द्र बुद्धि ने कहा है—**नैते कस्मिंश्चिद् व्याकरणे कृते, आभ्यामपि वैयाकरणा व्यवहरन्ति'** (न्यास) अर्थात् किसी व्याकरण में इन संज्ञाओं का विधान नहीं है, पर वैयाकरण इन संज्ञाओं का व्यवहार करते आए हैं। आचार्य कैयट ने इस समस्या का समाधान किया है कि शास्त्रों में यद्यपि 'आत्मनेपद-परस्मैपद' रूप दो संज्ञा-शब्दों का व्यवहार है, पर वैयाकरण कभी कभी 'पद' के स्थान पर 'भाष' शब्द का उच्चारण करते हैं। यह समाधान कुछ सदोष ज्ञात होता है और इसके अन्य युक्ततर उत्तर के लिये हम विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं।

इस प्रकार शास्त्र मे व्यवहार्य पारिभाषिक शब्द 'संज्ञा' भी कहलाता है। संस्कृत-भाषा में संज्ञा शब्द तीन पृथक्-पृथक् अर्थ में प्रचलित हैं, जिनका विवेचन करने के अनंतर ही शास्त्रीय लक्षणों का अध्ययन समीचीन होगा। संज्ञा शब्द, 'गो', 'घट', 'पट'—आदि जातिवाचक शब्दों के लिये भी व्यवहृत होता है। न्याय आदि दर्शनों में इस अर्थ मे 'संज्ञा' शब्द का प्रचुर व्यवहार है।[२] निरुक्त में भी 'गो' आदि जातिवाचक शब्दों को 'संज्ञा' कहा गया है। व्यक्तिवाची शब्द (Proper noun) के लिये भी 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार शास्त्र में (विशेष कर शब्दशास्त्र में) मिलता है, जैसे किसी विशेष मनुष्य की

२ - द्र० न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका, पृ० १२८, १३८ इत्यादि।

संज्ञा (नाम) देवदत्त है। यह 'संज्ञा' शब्द का द्वितीय व्यवहारार्थ है। इस निबंध में जिस 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह 'शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द' के अर्थ में है जिसका सामान्य लक्षण है—' **व्यवहारार्थं शास्त्रे कृतः संकेतः संज्ञा** '।[3]

शास्त्रकार किसी विशिष्ट कार्य के लिये जिस शब्द का स्वेच्छा से अर्थ विशेष में संकेत करते हैं, वही 'संज्ञा' शब्द यहाँ हमारा विवेच्य है। यह 'संज्ञा' शब्द सर्वथा अश्रुत-पूर्व भी हो सकता है, या लोक में प्रचलित कोई शब्द भी हो सकता है, और ऐसी स्थिति में उसका अर्थ शास्त्रकार के निर्देशानुसार ही होगा, लोक में प्रचलित अर्थ नहीं लिया जायगा। जैसे लोक में एक शब्द है 'गुण'। शब्दशास्त्रकार पाणिनि ने इस लौकिक शब्द का पारिभाषिक संज्ञा की तरह व्यवहार किया है जो सर्वथा नवीन अर्थ है (१।१।२ सूत्र द्रष्टव्य), जिससे लोक का कोई संबंध नहीं है। सामान्यतः 'गुण' शब्द का पाणिनीय व्याकरण में इसी अर्थ में प्रयोग होता है।

यह पहले ही जान लेना चाहिए कि संज्ञा शब्द, (पतञ्जलि की भाषा में अकृत्रिम संज्ञा) यदि लोक प्रचलित भी हो, तो भी उसका अर्थ अवश्यमेव लोक-विदित नहीं होगा, अर्थात् शास्त्रकार स्वयं अपने शास्त्र में उपदिष्ट किसी सूक्ष्म अर्थ के वाचक रूप में ही उस शब्द का प्रयोग करेगा। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब शास्त्रकार इस प्रकार लोक-प्रचलित शब्द का ग्रहण संज्ञार्थ करता है तब यह प्रायः देखा जाता है कि लौकिक अर्थ के साथ पारिभाषिक अर्थ का कुछ न कुछ सादृश्य रहता है। (जैसा हम आगे देखेंगे)। शास्त्रकार यह नवीन संकेत किस रूप से करता है, इसका विचार भर्तृहरि ने किया है[4]।

---

३ - 'देवदत्त' शब्द भी संज्ञा है, तथा शास्त्रव्यवहार्य संकेतित अर्थ-वाचक शब्द भी संज्ञा है। दोनों में समानता यह है कि ये दोनों शब्द किसी व्यक्ति विशेष से निश्चित समय पर स्वाभीष्ट अर्थ में संकेतित होते हैं, भेद केवल इतना ही है कि 'देवदत्त' शब्द शास्त्रमात्रव्यवहार्य नहीं है। इस संकीर्णता को दूर करने के लिये बाद में शास्त्रव्यवहार्य शब्द के लिये 'पारिभाषिक' शब्द भी प्रचलित हुआ था। अभी यह विषय विचाराधीन है।

४ - व्यवहाराय नियमः संज्ञानां संज्ञिनि क्वचित्।
नित्य एव तु संबन्धो डित्थादिषु गवादिवत्॥
वृद्ध्यादीनां च शास्त्रेऽस्मिन् शक्त्यवच्छेदलक्षणः।
अकृत्रिमोऽभिसंबन्धो विशेषणविशेष्यवत्॥

'घट', 'पट' आदि शब्दों से 'संज्ञा' शब्दों का मौलिक भेद स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए। 'घट', 'पट' आदि शब्द चिरकाल से प्रचलित हैं, किसी आचार्य-व्यवहार के कारण ही प्रसिद्ध न होकर लोक-व्यवहार के कारण सिद्ध हैं तथा उनके अर्थ लौकिक व्यवहार से ही ज्ञात हैं। परन्तु संज्ञा-शब्द को नियमतः आदिमान् माना जाता है, अर्थात् जिस अर्थ में वह शब्द प्रयुक्त किया गया है, वह अर्थ किसी आचार्य द्वारा किसी शास्त्र के लिए ही किसी समय संकेतित हुआ था (या नवीन शब्द होने से निर्मित हुआ था) यह पूर्वाचार्यों का संमान्य सिद्धांत है। काणाद ने स्पष्ट कहा है—**'संज्ञाया आदित्वात्'** (४।२६)। [यद्यपि यहाँ संज्ञा शास्त्रीय पारिभाषिक-शब्द नहीं है, तथापि उनका कथन है कि किसी पदार्थ का नामकरण आदिमान् अवश्य होगा। पारिभाषिक शब्द भी किसी आचार्य द्वारा अर्थ-विशेष के बोधन में संकेतित है। अतः विषय की भिन्नता होने पर भी यह नियम समान रूप से प्रवर्तनीय है।]

ऐसे संज्ञा शब्द अपने अर्थ के वाचक नहीं होते—यह ज्ञातव्य है। वाचक उसी को कहा जाता है, जिसका शब्दार्थ-संबंध आचार्यकृत न हो—किसी शास्त्रीय कार्य के लिए। योगशास्त्र का संयम शब्द इसका प्रसिद्ध उदाहरण है (**३।४ पातञ्जल सूत्र**) वाचस्पति ने ठीक ही कहा है—यह शब्द शास्त्रीय अर्थ-विशेष का नहीं कहा जायगा वरन् भाष्यकार ने इसे 'तान्त्रिकी परिभाषा' कहा है। [**तान्त्रिकी = तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते योगो येन शास्त्रेण तत् तन्त्रम्, तत्र भवा तान्त्रिकी' (तत्त्ववैशारदी)**।] यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पारिभाषिक शब्द तो तन्त्र-व्यवहृत (= शास्त्रीय) ही होगा, अतः 'तान्त्रिकी परिभाषा' शब्द का तात्पर्य क्या है? उत्तर में वक्तव्य है कि अन्य तन्त्र में भी यह परिभाषा है और पतञ्जलि ने उस शब्द को अपने शास्त्र में भी ले लिया है, इसलिये वह 'तान्त्रिकी परिभाषा' है। विज्ञान भिक्षु ने भी यही कहा है—**'तन्त्रान्तरसिद्ध संज्ञाप्रति-**

संज्ञास्वरूपमाश्रित्य निमित्ते सति लौकिकी।
काचित् प्रवर्तते काचित् निमित्तासन्निधावपि॥
शास्त्रे तु महती संज्ञा स्वरूपोपनिबन्धना।
अनुमानं निमित्तस्य सन्निधाने प्रतीयते॥
आवृत्तेरनुमानं वा सारूप्यात् तत्र गम्यते।
शब्दभेदानुमानं वा शक्तिभेदस्य वा गतिः॥

(वाक्यपदीय २।३६९-३७५)

पादकमिदं सूत्रम्' (योगवार्त्तिक)। पर यह समाधान पूर्णतः ठीक नहीं जान पड़ता; सम्यक् समाधान के लिये विद्वानों को यत्न करना चाहिए।

इस सूत्र में दूसरा संशय यह है कि इसे वाचस्पति ने परिभाषा-सूत्र कहा है, और भिक्षु ने संज्ञा-प्रतिपादक। क्या 'संज्ञा' और 'परिभाषा' समानार्थक शब्द हैं? उत्तर में वक्तव्य है कि 'संज्ञा' और 'परिभाषा' में अनेक विषयों में कुछ साम्य होने पर भी कुछ भेद किया गया है, और तदनुसार व्यवहार भी है, किंच 'संज्ञा' और 'परिभाषा' का अन्योन्य-विनिमय भी होता है। अतः स्थल विशेष पर संज्ञा को परिभाषा कहना दोषावह नहीं है। बात यह है कि 'परिभाषा' प्रक्रिया या सिद्धांत-संबंधी आचार्यों का नियामक वाक्य है (द्र० **काशिका १।२।५६**) और संज्ञा भी किसी शब्द का आचार्य के अर्थ में प्रवृत्ति-बोधक है (**द्र० वार्त्तिक — आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः। १।१।१ महाभाष्य**)। अतः संज्ञा और परिभाषा (और पारिभाषिक शब्द) का अन्योन्य-विनिमय रूप व्यवहार उपपन्न होता है। अर्थ में नियमन या लक्षण भी परिभाषा शब्द का अर्थ होता है जैसा काशिका (१।२।५७) के '**इहान्ये वैयाकरणाः कालोपसर्जनयोः परिभाषां कुर्वन्ति···**' —इस वाक्य में स्पष्ट है।

शास्त्रकार चाहे तो कृत्रिम शब्दों को बनाकर भी संज्ञा का निर्माण कर सकता है। कब शास्त्रकार नवीन शब्द की रचना करता है और कब प्रचलित शब्द का ग्रहण कर स्वोद्भावित अर्थ से उसे संकेतित करता है इसका यथास्थान विचार किया जायगा।

पारिभाषिक शब्दों का प्रयोजन शास्त्र-चिंतक एकस्वर से कहते हैं कि शब्द-व्यवहार में लाघव के लिये संज्ञाओं की रचना की जाती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट ही कहा है '**लघ्वर्थं संज्ञाकरणम्**' (१।१।१) अर्थात् बारबार अधिक शब्दों का व्यवहार न करना पड़े इसलिये शास्त्रकार अनेक शब्दों के लिये एक लघु शब्द को विशेष अर्थ में संकेतित कर देते हैं। इस कथन की पुष्टि योगदर्शन, वैशेषिक दर्शन आदि शास्त्रों से भी होती है। एक उदाहरण लीजिए—योगशास्त्र में धारणा-ध्यान-समाधि इन तीनों के लिये एक पारिभाषिक शब्द है—'**संयम्**' (**योगसूत्र ३।४**)। इस संज्ञा का प्रयोजन क्या है, इसके विषय में वाचस्पति ने कहा है—'**त्रयस्य तत्र तत्र नियुज्यमानस्य प्रातिस्विकसंज्ञोच्चारणे गौरवं स्यादिति लाघवार्थं परिभाषासूत्रम् अवतारयति**' (**तत्त्व वैशारदी**)। शास्त्र में अनेक शब्दों के स्थान पर एक लघु शब्द को संकेतित करने से अवश्य लघुता होती है। किंच पारिभाषिक शब्द ऐसे एक सूक्ष्म अर्थ को कहता है,

जिसको कण्ठतः कहने के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विशेष यत्न कर एक बार अर्थ-संकेत कर देने से बार बार उस अर्थ का ही बोध होगा, जिससे शास्त्रार्थ के ठीक-ठीक बोध में व्याघात नहीं होगा। यह भी लघुता ही है। कैयट ने कहा है—'**सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टार्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र**' (प्रदीप १।१।२०)।

संज्ञा शब्दों के प्रकार—किसी विषय की निर्माण-पद्धति के विचार के लिए उस पदार्थ का विभाग करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि पूर्ण विषय की रचना एक अखंड नियम से हुई हो; हो सकता है कि विषय के एक-एक अवांतर प्रकार के निर्माण के लिये एक-एक रीति अपनाई गई हो। वस्तुतः हम स्पष्ट देखते हैं कि पूर्वाचार्यों ने अनेक विचित्र रीतियों से संज्ञा-शब्दों का निर्माण किया है, अतः पहले 'संज्ञा' के भेदों का संकलन कर रहे हैं—

(क) मूलतः संज्ञा दो ही प्रकार की होती हैं—अन्वर्थ संज्ञा और कृत्रिम संज्ञा। कृत्रिम संज्ञाओं का व्यवहार व्याकरण में ही होता है (अन्य शास्त्रों में इसका व्यवहार नहीं देख पड़ता) और अन्वर्थसंज्ञा का व्यवहार सब शास्त्रों में है। अन्वर्थसंज्ञा उसे कहते हैं जिसमें शब्द का अवयवार्थ भी है या लोक में उसका प्रचलन भी है।[५] अन्वर्थ संज्ञा वस्तुतः योगरूढ़ होती है, जैसा कि नागेश ने कहा है—'**अन्वर्थसंज्ञात्वं नाम योगरूढत्वम्**' (उद्योत १।१।२९)। अन्वर्थसंज्ञा का प्रसिद्ध उदाहरण पातञ्जलयोग शास्त्र में व्यवहृत 'ऋतम्भर' शब्द है (१।४८ सूत्र), जिसके विषय में भाष्यकार ने कहा है—'**अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति**' (तत्रैव)। अन्वर्था का अर्थ है 'अनुगतार्था'; केवल स्वेच्छा से कल्पित कोई शब्दमात्र नहीं, जैसा पातञ्जलरहस्यकार ने कहा है—'**अन्वर्था अनुगतार्था नतु शब्दमात्रम्**' (१।२)।

अन्वर्थसंज्ञा के विषय में एक स्वाभाविक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि यह संज्ञा शब्द अर्थानुगत ही है, तो उसको 'संज्ञा' कहने की आवश्यकता ही क्या है? क्यों न उसे वाचक लौकिक शब्द ही समझा जाय? उत्तर यह है कि इसीलिये अन्वर्थसंज्ञा को

५.- छन्दःशास्त्रों में छन्दों के जो नाम कहे गए हैं, (शिखरिणी, हरिणी, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा इत्यादि) उन सबों का लौकिक अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है, पर उस अर्थ की संगति छन्दों के स्वरूप से किस रूप से हो सकती है—यह एक विचारणीय विषय है। विद्वानों को 'छन्दों के नाम तथा लक्षण' में जो अर्थ-संगति है, उसके अध्ययन का प्रयास करना चाहिए।

योगरूढ कहा जाता है, यौगिक नहीं। संज्ञा कितनी ही अन्वर्था क्यों न हो वह संज्ञी के स्वभाव को पूर्णतः उस प्रकार नहीं कह सकती, जैसे याजक, पालक आदि यौगिक शब्द अपने अर्थ का पूर्णतः अभिधान करते हैं। एक उदाहरण लीजिए—'स्फोट' शब्द एक अन्वर्थसंज्ञा है, क्योंकि वह अर्थ का स्फुटीकरण करता है (**स्फोट इति च अर्थस्फुटीकरणाधीना संज्ञाउपस्कार, २। २। २२**), पर क्या 'स्फोट' पदार्थ वस्तुतः केवल इतने अर्थ का बोधन करता है? इस शब्द के अर्थ की व्याप्ति अत्यंत विस्तृत है। वैशेषिक दर्शन में 'भूयस्त्व' एक अन्वर्थसंज्ञा है। (८। २। ५), पर इसका अर्थ केवल आधिक्य नहीं है, प्रत्युत '**इतरद्रव्यानभिभूतैः पार्थिवावयवैरारब्धत्वमेव भूयस्त्वम्**'[६] (उपस्कार ८।२।५) है, अतः हमें मानना पड़ता है कि अन्वर्थसंज्ञा यौगिक शब्द नहीं हो सकता, उसे योगरूढ़ कहना ही होगा।

यह प्रश्न हो सकता है कि सामान्य योगरूढ़ शब्दों से योगरूढ़ संज्ञाशब्दों का पार्थक्य क्यों स्वीकार किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उक्त संज्ञा शब्द शब्ददृष्टि से योगरूढ़ है, तथापि उस शब्द का अर्थ शास्त्र मात्र प्रसिद्ध है, लोक-प्रसिद्ध कदापि नहीं है। पूर्वोक्त 'भूयस्त्व' शब्द के उदाहरण में हम देखते हैं लोक में भी यह शब्द 'आधिक्य' अर्थ में चलता तो है पर वैशेषिक के पारिभाषिक अर्थ में नहीं। अतः वह पंकजादि शब्दों के समान योगरूढ़ कदापि नहीं है। दूसरा उदाहरण लीजिए—द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों की वैशेषिक में 'अर्थ' संज्ञा है (८। २। ३)। इस शब्द का उक्त शास्त्र-प्रसिद्ध अर्थ लोक-प्रचलित नहीं है। अतः यह तथा ऐसे अन्य शब्द योगरूढ़ होते हुए भी संज्ञा शब्द होंगे।

कभी-कभी अन्वर्थ संज्ञा में अवयवार्थ को न लेकर सादृश्य-संबंध से ही नाम रख दिया जाता है। सांख्य में 'भूतादि' संज्ञा इसका एक अच्छा उदाहरण है। 'तामस अहंकार' की प्राचीन संज्ञा 'भूतादि' थी (**सांख्यकारिका २५ का०**)। क्यों इसकी संज्ञा 'भूतादि' रखी गई है, इसके लिये भाष्यकार गौड़पाद युक्ति देते हैं—**तामसोऽहंकारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात्**'। तात्पर्य यह है कि तामस अहंकार अपेक्षाकृत निष्क्रिय है, और भूत शब्द भी स्थिरत्व का बोधक है, अतः उसके लिये भूतादि संज्ञा अन्वर्थ है। आदि शब्द इसलिये जोड़ा गया है कि उससे प्रभूतों की उत्पत्ति होती है।

अन्वर्थ संज्ञा का ही दूसरा नाम 'महती संज्ञा' (= महासंज्ञा) है। अन्वर्थ संज्ञा से यदि इसका कुछ भेद भी करना है तो इतना कहा जा सकता है कि अन्वर्थसंज्ञा

---

६ - अन्य द्रव्यों से अनभिभूत पार्थिव अवयवों से आरब्धता ही 'भूयस्त्व' है।

नियमतः अर्थानुगत होगी, किंतु व्याख्याकारों के कथनानुसार 'महासंज्ञा' कभी-कभी अर्थशून्य भी हो सकती है, क्योंकि संज्ञी में उसके अर्थ की कुछ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पहले हम अन्वर्थ संज्ञापर्याय 'महासंज्ञा' के कुछ उदाहरण दे रहे हैं। अष्टाध्यायी में एक संज्ञा है—'संयोग' (१।१।७)। यहाँ यदि प्रस्तुत संज्ञा को 'संयोग' न कहकर उसके बोधन के लिए अन्य कोई एकाक्षर शब्द रखा जाता, तो विशेष कोई दोष नहीं होता, और इसलिये अन्यान्य व्याकरणों में एकाक्षर शब्द बनाए भी गए हैं, पर एक ऐसा स्थल है जहाँ 'संयोग' के रूप-अर्थ की भी आवश्यकता होती है, अतः पाणिनि ने 'संयोग' शब्द से ही संज्ञा बनाई है (द्र० बालमनोरमा)।

यद्यपि प्राचीनतम व्याख्याकार यह मानते थे कि 'महासंज्ञा' आरंभ में किसी प्रयोजन के लिये की जाती है[७] पर समय बीतने पर जब उस संज्ञा-शब्द की विशिष्टार्थ-बोधकता लुप्त हो जाती है तब अर्थवान् महासंज्ञाओं को भी व्याख्याकार अर्थशून्य की भाँति समझने लगते हैं। पाणिनि-व्यवहृत 'सर्वनामस्थान' की मूलभूत अन्वर्थकता का परिचय न होने के कारण ही जिनेन्द्रबुद्धि (न्यासकार) ने उसको प्रयोजन-रहित कहा है—**'पूर्वाचार्यैरेवेयं प्रयोजनमन्तरेण महती संज्ञा प्रणीता'**। पदमंजरीकार ने इस विचार को और बढ़ाया और यह निर्णय किया—**'तस्मात् पूर्वाचार्यान् उपालब्धुमेषा महती संज्ञा क्रियते'**। इन लोगों ने उक्त शब्द की सार्थकता का परिचय न रहने के कारण ही सूत्रकार पाणिनि के प्रति भ्रमोत्पादक कल्पना (अनुमान नहीं) की, जिसका खंडन मैंने अन्यत्र किया है।

जहाँ पाणिनि ने पूर्वाचार्य-व्यवहृत किसी अर्थवान् 'महासंज्ञा' का प्रयोग अपने ग्रंथ में किया है, वहाँ पाणिनि यह भी चाहते हैं कि पूर्वाचार्य के अभीष्ट अर्थ का ग्रहण भी किया जाय।[८] परमप्राचीन काशिकाकार तथा कैयट आदि ने बारबार इस सत्य का प्रतिपादन किया है, जैसा कि 'तत्पुरुष' संज्ञा के विषय में कहा गया है—**पूर्वाचार्यसंज्ञा चेयं महती, तदङ्गीकरणम् उपाधेरमपि तदीयस्यत्र परिग्रहार्थम्—उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्-**

---

७ - वैदिकाभरण में महासंज्ञा के विषय में कहा गया है—'अन्वर्थत्वं महासंज्ञा व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च। पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः' (१।२)।

८ - शास्त्रान्तर की संज्ञा स्वशास्त्र में लेने से यथावत् उसका ग्रहण करना ही शास्त्रकारों की प्रचलित पद्धति है।—द्रष्टव्य संक्षिप्तसार की गोपीचन्द्र टीका ६।५८।

पुरुष इति' (२।१।२२)। अर्थात् पूर्वाचार्यों ने तत्पुरुष शब्द का जो अर्थ भी लिया था, पाणिनि को भी वह इष्ट है, क्योंकि पाणिनि ने बिना कुछ परिवर्तन किए (जो शास्त्रकार होने के नाते वे कर सकते थे) उस शब्द को लिया है। अतः पाणिनि को भी पूर्वाचार्यों का अर्थ इष्ट है। ठीक ऐसा ही विचार 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) सूत्र पर भी काशिका में मिलता है।

अब हम कृत्रिम संज्ञा (जिन शब्दों का कुछ भी लौकिक अर्थ नहीं है) पर विचार करेंगे। यहाँ केवल शाब्दिकों का विचार ही उपस्थित किया जायगा, क्योंकि अन्यशास्त्रों में इसका कोई व्यवहार नहीं है।

'कृत्रिम संज्ञा' का सामान्य लक्षण है—'जो संज्ञा पूर्णतः आचार्य द्वारा कृत है' और लोक-व्यवहार में अज्ञात है। व्याकरण में टि, घ, घु, भ आदि एकाक्षर संज्ञाएँ इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। प्राक्-पाणिनीय काल में भी इस प्रकार की एकाक्षर या अर्थहीन संज्ञाएँ थीं और आधुनिक व्याकरणों (मुग्धबोध, जैनेन्द्र) में भी इस रीति का प्रसार है।

इस प्रकार अर्थहीन शब्दों का संज्ञारूप से व्यवहार आचार्यों ने क्यों किया—इस पर धीरबुद्धि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जहाँ अन्वर्थ संज्ञा रखने की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी, वहाँ लाघव के लिये ऐसे एकाक्षर शब्दों का व्यवहार किया गया है।

यह उत्तर सामान्य दृष्टि से दिया गया है। इसमें भी यह चिन्तनीय है कि क्यों एक संज्ञा को कोई शास्त्रकार अन्वर्थ बनाते हैं, और कोई कृत्रिम। जैसे पाणिनि ने 'करण' संज्ञा (कारक विशेष) सार्थक मानी है, तो कलापतन्त्र-व्याकरण में अर्थशून्य 'रण' शब्द-रूप संज्ञा बनाई गई है। कण्ठ्य वर्ण को कोई 'ठ्य' कहता है, 'ह्रस्व' को किसी आचार्य ने केवल 'स्व' कहा है इत्यादि। इन पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में आचार्यों की प्रवृत्ति ऐसी जान पड़ती है कि पहले ये शब्द सार्थक पारिभाषिक संज्ञाएँ थीं, (करण, ह्रस्व, इत्यादि) और बाद में लाघवप्रिय आचार्यों ने उन सार्थक शब्दों के एकदेश को लेकर संज्ञा-शब्द का निर्माण किया है जिससे शब्दतः लाघव भी हो और उससे पूर्व-प्रचलित एक सार्थक शब्द का अनुमान भी हो (अर्थात् पूर्व शब्द भी स्मृतिपथ में उदित रहे)। यदि आचार्य को सर्वथा अभिनव लघिष्ठ शब्द की रचना इष्ट होती, तो पूर्व प्रचलित संज्ञा-शब्द का अनुकरण न कर सम्यक् अभिनव लघुतम संज्ञा-शब्द ही बनाते

क्योंकि आचार्य तो संज्ञा-शब्द के निर्माण में स्वतन्त्र हैं ही। हमारा यह विचार कपोल-कल्पित नहीं है, प्रत्युत पूर्व-व्याख्याकारों ने भी इस मत को कहा है, यथा—

मुग्धबोध की टीका में रामानन्द ने कहा है—'**अत्र सर्वशास्त्रप्रसिद्धाः संज्ञाः प्रायेण एकदेशेन उच्यन्ते तत्संज्ञास्मरणार्थम्। यथा स्वर्दप्लु इति ह्रस्वदीर्घप्लुतानां ग्रहणम्**' (१।५)। जहाँ पूर्वप्रचलित सार्थक शब्द के एकदेश को ही लेकर संज्ञा बनाई गई है, वहाँ जैसे पूर्व-प्रचलित संज्ञा का स्मरण दिलाना उस नूतन संज्ञा का एक कार्य है, वैसे ही उसका यह भी एक कार्य प्रतीत होता है कि नवीन शास्त्रकार अपने शास्त्र के लिये उस संज्ञा की अन्वर्थकता को अनावश्यक समझते थे। अन्यथा प्रचलित प्रसिद्ध 'संज्ञा' को तोड़कर नूतन संज्ञा का निर्माण (जिससे एक के स्थान पर दो संज्ञाओं का स्मरण अध्येता को करना पड़े) उपपन्न नहीं होता। ध्यान देकर विचारने से यह निर्णय ठीक जान पड़ता है, पर कहीं-कहीं इसका अपवाद भी दिखाई देता है।

पारिभाषिक शब्दों के विषय में एक दूसरा विचारणीय विषय यह भी है कि कभी-कभी शास्त्रकार पारिभाषिक शब्द का अर्थ ग्रंथ में कहते हैं और कभी कभी नहीं भी कहते हैं। जब सूत्रकार पारिभाषिक अर्थ का निर्देश नहीं करते हैं और वह शब्द लौकिक अर्थवान् भी होता है, तब यह संशय उत्पन्न होता ही है कि यहाँ कोई पारिभाषिक अर्थ (शास्त्रमात्र-व्यवहरणीय) विवक्षित है या लोक प्रसिद्ध अर्थ विवक्षित है। यह संशय तब और भी दृढ़तर हो जाता है, जब ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-प्रसिद्ध अर्थ भी शास्त्र में व्यवहार्य है—निम्नलिखित उदाहरणों को देखिए—

योगसूत्र में कहा गया है—'**तीव्रसंवेगानामासन्नः**' (१।२१); संवेग शब्द का एक प्रचलित अर्थ भी है, जो कथंचित् घट भी सकता है, अतः यहाँ कोई पारिभाषिक अर्थ इष्ट है या नहीं—ऐसा संशय हो सकता है। इसके उत्तर में यह सामान्यतः कहा जा सकता है कि जब भी इस प्रकार का संदेह हो, तभी उस शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों से इसका निरूपण करना चाहिए कि वहाँ यह शब्द पारिभाषिक था या नहीं। क्योंकि पारिभाषिक शब्द जब स्व-संप्रदाय में अति प्रचलित होगा, तब बाद में कोई भी आचार्य उसका अर्थ-निर्देश बिना किए भी उसका प्रयोग कर सकता है। इसके साथ यह भी देखना चाहिए कि लौकिक अर्थ की सुसंगति यदि न हो, तो अवश्यमेव पारिभाषिक अर्थ विवक्षित है, ऐसा यथार्थ अनुमान हो सकता है। प्रकृतस्थल में हम जानते हैं कि यह 'संवेग' शब्द योग-विद्या का पारिभाषिक है।

वस्तुतः अतिप्रचलन के कारण सभी आचार्यों ने अनेक स्थलों पर अर्थ-निर्देश न कर पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। स्वयं पाणिनि ने 'द्वितीया', 'तृतीया' आदि पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार अर्थ-निर्देश के बिना ही किया है, क्योंकि पूर्वाचार्यों के शास्त्रों में ये संज्ञा-शब्द अतिप्रचलित थे (काशिका २ । ३ । २)।

यह बात गोतम, कणाद, आदि के लिये भी सत्य है। उन्होंने 'संस्कार' 'अदृष्ट' आदि शब्दों का पारिभाषिक अर्थ में व्यवहार तो किया है, पर उनका अर्थ-निर्देश नहीं किया है। पूर्वाचार्यों के अर्थों का अनुसंधान बिना किए उन शब्दों के केवल लोक-प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण जब हम करते हैं तब अर्थ का अनर्थ होजाना सहज ही है। क्योंकि लोक-प्रसिद्ध अर्थ यहाँ घटता नहीं है अतः कोई पारिभाषिक अर्थ ही ऐसे स्थलों पर अनुसंधेय होना चाहिए।

संस्कृत के संज्ञा शब्दों की एक विशिष्टता यह भी है कि कभी-कभी एक ही शब्द अवयव तथा समुदाय के लिये भी व्यवहृत होता है। जैसे पंचप्राण के प्रथम विभाग का नाम भी 'प्राण' है (**प्राणोदान व्यानापानसमानाः**); उसी प्रकार अष्टांग योग का चरम अंग समाधि है, और योग का पर्याय भी समाधि है (पातंजल शास्त्र में)। यह व्यवहार केवल इसलिये हो गया है कि प्राण तथा समाधि अन्य अंगों में सर्वप्रमुख और श्रेष्ठ हैं प्राण के अधीन अन्य व्यानादि रहते हैं तथा समाधि अन्य अंगों की अन्तिम परिणति है।

कभी-कभी पारिभाषिक शब्दों में काव्य-सौंदर्य का प्रतिभास भी होने लगता है अर्थात् जिन पदार्थों के लिये संज्ञाओं की रचना की गई है, उन दोनों की जिस सदृशता को लेकर संज्ञा बनाए गए हैं, उनमें अर्थगत मौलिक सादृश्य की अपेक्षा व्यावहारिक सौंदर्यबोध अधिक होता है। यहाँ शब्दों के चयन में कोई शास्त्रीय परिपक्वता नहीं है, प्रत्युत रसबोध अपेक्षाकृत अधिक उद्बुद्ध रहता है। किस समय शास्त्रकारों में ऐसी प्रवृत्ति का उदय हुआ था—यह अनिश्चित है। पर इतना निश्चित ही है कि ऐसे संज्ञाओं की रचना के अवसर पर मन में दार्शनिक विशद प्रज्ञा की अपेक्षा स्थूल रसबोध अधिक सक्रिय था। सांख्यशास्त्र से उदाहरण दिया जा रहा है।

सांख्य में ९ प्रकार की तुष्टि स्वीकृत हैं—'**नव तुष्टयोऽभिमताः**' (सांख्यकारिका ५०)। कारिका में 'प्रकृतितुष्टि' आदि नौ नाम उनके लिये दिए गए हैं। पर इन नामों

के लिए जो प्राचीन संज्ञाएँ थीं, उनसे पूर्वोक्त रीति का परिचय मिलता है। उन संज्ञाओं के नाम ये हैं—अम्भस्, सलिल, मेघ, वृष्टि, सुतम, पार, सुनेत्र, नारीक तथा अनुत्तमाम्भः (द्र० गौडपादभाष्य)। ध्यान देना चाहिए कि कारिका में जो शब्द प्रकृतितुष्टि, उपादान-तुष्टि, कालतुष्टि इत्यादि आए हैं उनमें दार्शनिक दृष्टि अधिक प्रबल है, उनके लिये जो प्राचीन संज्ञाएँ हैं-अम्भस्, सलिल, मेघ आदि उनमें काव्यात्मक संकेत की स्थूलता अधिक है। इन शब्दों के व्यवहार में लौकिक सौंदर्य-बोधकता का उद्घाटन व्याख्याकारों द्वारा कराया गया है।

(१) प्रकृतितुष्टि की संज्ञा 'अम्भस्' इसलिये रखी गई है कि अम्भस् (जल) जैसे मज्जन-हेतु है, प्रकृतितुष्टि भी वैसे ही संसारमजन का हेतु है। इसी प्रकार (२) उपादानतुष्टि की संज्ञा 'सलिल' इसलिये की गई है कि सलिल (=जल) जैसे संसरण का निमित्त है, वैसे ही उपादान-तुष्टि भी संसरण का निमित्त है। (३) कालतुष्टि की प्राचीन-संज्ञा 'मेघ' है, **'कालप्रतीक्षाया उत्तापकत्वात्'**। (४) भाग्याख्य-तुष्टि की संज्ञा वृष्टि है, क्योंकि उससे अकस्मात् विवेकख्याति का सिंचन होता है जैसे मेघ से अकस्मात् वृष्टि होती है। इसी प्रकार आगे भी व्याख्या की गई है।

इस रीति का दूसरा उदाहरण अष्ट सिद्धियों की प्राचीन संज्ञाओं में भी मिलता है — ऊह की प्राचीन संज्ञा तार, शब्द की संज्ञा सुतार, अध्ययन की संज्ञा तारतर, आधिभौतिक दुःखविघात की संज्ञा प्रमोद, आधिदैविक दुःखविघात की संज्ञा प्रमुदित, आध्यात्मिक दुःखविघात की संज्ञा प्रमोदमान, सुहृत्प्राप्ति की संज्ञा रम्यक तथा दान की संज्ञा सदाप्रमुदित है। (सांख्यकारिका ५१)। यदि हम यहाँ 'संज्ञी का स्वरूप तथा संज्ञा-शब्दों का प्रचलित अर्थ' इन दोनों की तुलना करें, तो हमें स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन संज्ञाओं में दार्शनिक चमत्कारिता कुछ भी नहीं है, पर लौकिक रसबोध है। कब इन संज्ञाओं की रचना हुई थी—यह गवेषणीय है।

कभी-कभी एक पदार्थ के लिये दो पारिभाषिक शब्द व्यवहृत होते हैं। यदि अन्य शास्त्रकार ने एक ही विषय के लिये अन्य पारिभाषिक शब्द की रचना की हो, तो वह कोई दोषावह नहीं है, क्योंकि पारिभाषिक शब्द के प्रणयन में आचार्य स्वतंत्र होता है, पर एक ही ग्रंथ (या शास्त्र में) एक ही आचार्य एक पदार्थ के लिये एकाधिक पारिभाषिक शब्द का व्यवहार करे—यह एक विचारणीय विषय होता है। हम समझते हैं कि

जहाँ ऐसा किया गया है, वहाँ कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा, जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों से प्रमाणित होगा :—

(क) प्राचीन पारिभाषक शब्द जब अप्रचलित हो जाते हैं, तब तात्कालिक प्रचलित (अथच सार्थक) शब्दों का प्रयोग उनके स्थान पर किया जाता है। हम जानते हैं कि प्राचीनतम वैशेषिक शास्त्र में न्यायवाक्यों के पांच अवयवों के पांच नाम थे—प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा प्रत्याम्नाय (**उपस्कार ९।२।२**)। इनके स्थान पर अपेक्षाकृत आधुनिक न्याय में—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय तथा निगमन शब्दों का व्यवहार है। यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैशेषिक का शब्द प्राचीनतर है और गोतम का शब्द आधुनिक। आगे चलकर वैशेषिक-शब्द अव्यवहृत ही हो गए। प्रत्याम्नाय आदि शब्दों का प्रचलन उस काल में सिद्धवत् नहीं था, अतः गोतम ने नवीन पारिभाषिक शब्दों की रचना की।

(ख) ऋक् प्रातिशाख्य में 'वशंगम' एक संज्ञा-शब्द है (४।१४)। वहाँ एक दूसरी संज्ञा भी इसके स्थान पर है, जिसको 'परिपन्न' कहा जाता है (५।२५)। एक अर्थ में दो संज्ञाएँ क्यों हैं, इसका विचार उवट ने किया है। उन्होंने बताया है कि कार्य में कुछ अतिशय विशेष होने से पूर्वाचार्य एक के स्थान पर अन्य संज्ञा का भी निर्माण करते थे।

(ग) कभी-कभी संज्ञान्तर का कारण संज्ञी में निहित किसी तत्त्व का स्फुटरूप से प्रतिपादन भी होता था। हम जानते हैं कि 'वर्ण' के लिये 'अक्षर' रूप संज्ञान्तर का व्यवहार भी था, जिसके विषय में पतञ्जलि ने कहा है—'**अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्य अक्षरमिति संज्ञा क्रियते**' (आह्निक २)। वर्ण का क्षय आदि नहीं है, इसको दिखाने के लिये यह नई संज्ञा रची गई—यह स्पष्ट है।

इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि एक शास्त्र में एक ही शब्द पारिभाषिक तथा अपारिभाषिक दोनों अर्थों में व्यवहृत है, जिससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। आचार्य ने ऐसा क्यों किया ?

इस प्रकार के व्यवहार का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में है। वहाँ कर्म, करण, उपसर्जन, संबुद्धि, संख्या आदि कितने ही ऐसे शब्द हैं, जो लौकिक और पारिभाषिक दोनों अर्थों में व्यवहृत है, और वहाँ कौन अर्थ लिया जायगा, इसका

कोई स्पष्ट उल्लेख भी नहीं है। ऐसे स्थलों पर व्याख्यान से निर्णय करना चाहिए कि कहाँ एक शब्द का पारिभाषिक अर्थ लिया जायगा और कहाँ लौकिक। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि व्याख्यान निर्युक्तिक नहीं होता, उसका भी गमकतत्त्व होता है। सामान्यतः यह कहा जाता है—'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यं संप्रत्ययः' (१।१।२२ भाष्य) अर्थात् जहाँ कृत्रिम तथा अकृत्रिम—दोनों अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ कृत्रिम (शास्त्र-संकेतित) अर्थ का बोध करना चाहिए। पर इस नियम का वैपरीत्य भी है। भाष्यकार ने पूर्वोक्त न्याय के समर्थन में जो लौकिक दृष्टान्त दिया है, उससे यह भी सूचित होता है कि अधिकांश स्थलों पर पूर्वोक्त न्याय ही स्वीकार्य है।

उपसंहार में यह वक्तव्य है कि यद्यपि इस निबन्ध में पारिभाषिक शब्दों की निर्माण-पद्धति पर हमने कुछ कहा नहीं है, तथापि संज्ञा के प्रकारों पर ध्यान से विचार करने से उनकी निर्माणपद्धति भी विज्ञात होगी। निर्माणपद्धति के विषय में आज अनुशासन-वाक्य नहीं मिलता, पर उदाहरणों से नियमों की कल्पना की जा सकती है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष ६० : संवत् २०१२ : अंक २

●

महाकवि भूषण का समय

[कैप्टेन शूरवीर सिंह]

महाकवि भूषण के संबंध में जो अन्वेषण अब तक हुए हैं, उनमें भूषण के काल-निर्णय पर मतभेद रहा है। श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने भूषण का जन्म-संवत् १७३८ एवं मृत्यु-संवत् १८०० माना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका जन्म-संवत् १६७० और मृत्यु-संवत् १७७२ लिखा है। 'मिश्रबंधु विनोद' में भूषण का जन्म-काल अनुमान से संवत् १६७० और मृत्यु-संवत् १७७२ बताया गया है। इनके ग्रंथ 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल दसक' और स्फुट छंद ही अब तक हिंदी-जगत् के समक्ष आए हैं। 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिश्रबन्धुओं ने 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' एवं 'भूषण हजारा' नामक ग्रंथ भी महाकवि भूषण द्वारा रचित लिखे हैं, परंतु इस उल्लेख के साथ कि इन तीनों ग्रंथों का अब पता नहीं चलता।

'मिश्रबन्धु विनोद' में महाकवि भूषण का कविता-काल संवत् १७०५ माना गया है। सौभाग्य से मुझे हाल ही में भूषण कृत एक 'अलंकार प्रकाश' नामक ग्रंथ की प्रतिलिपि उपलब्ध हुई है, जिसका रचनाकाल भी संवत् १७०५ ही है। इसमें दस उल्लास हैं, जिससे ग्रंथ का नाम 'भूषण उल्लास' होना विदित होता है। इस ग्रंथ के अप्राप्य होने का उल्लेख मिश्रबन्धु विनोद में भी है। इस ग्रंथ की उपलब्धि से महाकवि भूषण का काल प्रामाणिक रूप से निश्चित हो जाता है, एवं हिन्दी जगत के समक्ष भूषण के, अब तक अज्ञात, वास्तविक नाम पर भी प्रकाश पड़ता है। यह पुस्तक एक साहित्य-प्रेमी सज्जन के द्वारा जिला उन्नाव से प्राप्त हुई है और भूषण ने इसकी रचना गहरवार वंशीय नरेश देवीशाह अथवा देवी सिंह बुंदेला के लिए की थी। पुस्तक के दूसरे पृष्ठ के बाद के नौ पृष्ठ लुप्त हैं, जिनमें सम्भवतः भूषण के वंश-परिचय एवं निवास-स्थान का भी विस्तृत उल्लेख रहा होगा, क्योंकि राजवंश-वर्णन का क्रम दूसरे पृष्ठ में है। प्रायः

पुराने रीतिकालीन कवियों की यह परंपरा थी कि वे अपने आश्रयदाता के वंश-परिचय के पश्चात अपना वंश-परिचय एवं निवास-स्थान आदि भी लिखते थे। ग्रंथ के अंत में भी भूषण ने अपना वंश-परिचय इस प्रकार लिखा है—'वीराधि वीर राजाधिराज श्री राजा देवीशाह देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वर आत्मज कवि भूषण मुरलीधर विरचिते अलंकार प्रकाशे अविधानिरूपनो नाम दसमो उल्लासः। समाप्तम् शुभम् भूयात्।' इसी प्रकार प्रत्येक उल्लास की पुष्पिका में भूषण ने अपना परिचय दिया है।

इस ग्रंथ के ४३२ वें दोहे में भी भूषण ने अपना वंश-परिचय इस प्रकार दिया है—

"रामकृष्ण कश्यप कुलहि, रामेश्वर सुव तासु।
ता सुत मुरलीधर कियो, अलंकार परकासु॥"

इस दोहे से भूषण के कश्यप गोत्रीय होने की भी पुष्टि होती है। ग्रंथ का रचना-काल ४३३ वें दोहे में इस प्रकार दिया गया है:—

'पाँच सुन्न सत्रह बरिस, कातिक सुदि छठि जानु।
अलंकार परकासु को, कवि कीनो निरमानु॥ = संवत् १७०५।

मैंने आगे जो और खोज इस संबंध में की तो यह पता चला कि जिला हमीरपुर में 'संगरा' नाम का एक गाँव तहसील 'चरखारी' में है, जहाँ सत्रहवीं एवं अठारवीं सदी में गहरवार वंश का प्रबल पराक्रमी राज्य था। वहाँ अब भी इस प्राचीन राज्य-वंश का सुदृढ़ और प्राचीन किला विद्यमान है। इस वंश के एक राजा अर्जुन के नाम पर अर्जुन पुस्तकालय भी वहाँ है, जिसमें बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ भी हैं।

'अलंकार प्रकाश' से भी इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—**'तिसु भयउ पूत, संगर सपूत। महि महीपाल, अरजुन पाल।'** इत्यादि

इसी प्रकार महाकवि मतिराम के संबंध में भी अब तक एक भ्रम था। 'मिश्रबंधु विनोद' तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सम्मति है कि भूषण एवं मतिराम परंपरा से सगे भाई प्रसिद्ध हैं और 'तिकवापुर' निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र कहे जाते हैं। मुझे सौभाग्य से मतिराम कृत ग्रंथ 'वृत्त कौमुदी' की हस्तलिखित प्रति अभी उपलब्ध हुई है। श्री कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित 'मतिराम ग्रंथावली' एवं 'मिश्रबन्धु विनोद' में महाकवि मतिराम के रचित ग्रंथों में 'छंदसार पिंगल' का नाम है। 'मिश्रबन्धु विनोद' से विदित होता है कि 'छंदसार पिंगल' के थोड़े से ही पृष्ठ मिश्रबन्धुओं ने देखे थे। इसी तरह श्रीकृष्णबिहारीजी की 'मतिराम ग्रंथावली' से भी पता चलता है कि 'छंदसार' पिंगल

ग्रंथ उनके देखने में नहीं आया। श्री भागीरथप्रसाद ने 'वृत्त कौमुदी' को ही 'छंदसार पिंगल' ग्रंथ माना है, परंतु श्रीकृष्णबिहारी मिश्र ने इन दोनों को पृथक माना है। इन्होंने लिखा है कि श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित का कहना है कि उनको अब यह ग्रंथ 'वृत्त-कौमुदी' नहीं मिल रहा है। श्रीकृष्णबिहारी मिश्र जी के सतत प्रयास करने पर भी उनको 'वृत्तकौमुदी' ग्रंथ नहीं मिला, जिससे उन्होंने माधुरी एवं नागरीप्रचारिणी सभा के छपे हुए अंशों के आधार पर ही इस संबंध में अपनी संमति प्रकट की। 'छंदसार पिंगल के नाम का पता 'शिव सिंह सरोज' से ही मिश्र जी को लगा। ग्रंथ उन्होंने नहीं देखा। परंतु अब 'वृत्त कौमुदी' के उपलब्ध होने से उपरोक्त भ्रम दूर हो जाता है, और इस ग्रंथ के अध्ययन करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यही वह ग्रंथ 'छंदसार पिंगल' है जिसका 'शिवसिंह सरोज' में महाकवि मतिराम द्वारा रचित होना प्रसिद्ध है, और जिन्होंने 'रसराज' 'ललित ललाम' एवं 'मतिराम सतसई' ग्रंथों की रचना की है। भाषा एवं शैली भी इन ग्रंथों की एक ही है। यह (छंदसार का संग्रह) पिंगल-ग्रंथ की रचना महाराज स्वरूपसिंह बुंदेला के लिये महाकवि मतिराम ने 'वृत्तकौमुदी' नाम देकर की थी।

'वृत्तकौमुदी' (छंदसार पिंगल) की रचना संवत् १७५८ में हुई। इस ग्रंथ में मतिराम ने अपने को विश्वनाथ का पुत्र तथा 'बनपुर' निवासी होना बताया है। मतिराम ने ग्रंथ के अंत में वंशवर्णन इस प्रकार किया है—

'तिरपाठी बनपुर बसै' वत्स गोत सुनि गेह
... ...
तिनके तनय उदार मति, विश्वनाथ हुअ नाम
... ...
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह सरूप सुजान को, बरनै सुजस अपार॥

इस ग्रंथ में मतिराम ने जो अपने आश्रयदाताओं का वर्णन किया है, उससे यह सिद्ध होता है कि ये वही मतिराम हैं जिन्होंने महाकवि भूषण के साथ भारत-भ्रमण किया था। मतिराम ने इस ग्रंथ में अपने आश्रयदाताओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

दाता एक जैसो शिवराज भयो तैसो अब,
फतेसाहि सीनगर साहिबी समाज है।
जैसो चित्तौर धनी राना नरनाह भयो,
तैसोई कुमाऊं-पति पूरोरज लाज है।
जैसे जयसिंह जसवन्त महाराज भयो,
जिनको मही में अजौं बक्यौ बल साज है।
मित्र साहिनन्द सी बुन्देल कुल चंद जग,
ऐसो अब उदित स्वरूप महाराज हैं॥

यह तो इतिहास-सिद्ध है कि महाकवि भूषण एवं मतिराम ने तत्कालीन गढ़वाल एवं कुमाऊं राज्यों की यात्रा की थी और गढ़वाल-नरेश फतेशाह की प्रशंसा में निम्नलिखित छंद की रचना की थी :—

लोक भुवलोकहूं ते ऊपर रहैगो भारौ,
भानु ते प्रभानि की निधान आनि मानैगो।
सरिता सरित सुरसरि तें करैगो साहि,
हरि ते अधिक अधिपति ताहि मानैगो।
उरध परारध ते गिनती गिनैगो गुनि,
वेद ते प्रमान सो प्रमान कछु जानैगो।
सुयश ते भलो मुख भूषण भनैगो बाढ़ि,
गढ़वार राज पर राज जो बखानैगो।

महाकवि भूषण ने शिवराजभूषण के २४९ वे छंद में अपने आश्रयदाताओं का निम्नलिखित वर्णन किया है—

मोरंग जाहु कि जाहु कुमाऊं,
सिरीनगरे की कवित्त बनाये।
बान्धव जाहु कि जाहु अमेरि, कि
जोधपुरै कि चितौरहि धाये।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै, कि
दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
'भूषन' गाय फिरो महि में,
बनिहै चित चाह शिवाहि रिझाये।

'वृत्तकौमुदी' के उपरोक्त छंद तथा 'शिवराज भूषण' का यह छंद स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि इन दोनों महाकवियों के आश्रयदाताओं में समानता थी।

इसी तरह इन दोनों ग्रंथों, मतिराम कृत 'वृत्तकौमुदी' (छंदसार पिंगल) एवं भूषण कृत 'शिवराज भूषण' में गजराज वर्णन के निम्नलिखित छंदों में भाव-साम्य एवं भाषा-सादृश्य में इतनी विलक्षण एकता है कि इन दोनों महाकवियों की आपस की घनिष्ठता स्वतः प्रकट होती है।

जिनकी गरज सुन दिग्गज बे-आब होत। —शिवराज भूषण
जिनकी गरज होत दिग्गज अचेत हैं। —वृत्त कौमुदी
जकरे जंजीर जोर जकरे किरिरि हैं। —शिवराज भूषण
जकरे रहत जे न जालिम जंजीरन सों। —वृत्त कौमुदी

महाकवि भूषण का 'अलंकार प्रकाश' नामक ग्रन्थ जो मुझे उपलब्ध हुआ है और जिसका वर्णन ऊपर आ चुका है उसके कुछ छंदों के भाव, छंदरचना एवं लक्षण आदि की परिभाषा में जो 'ललित ललाम' से इतना अधिक सादृश्य पाया जाता है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है कि महाकवि मतिराम ने 'ललित ललाम' में भूषण के 'अलंकार प्रकाश' से अनुकरण किया है और 'अलंकार प्रकाश' भी उसी 'भूषण' कवि की रचना है, जिससे मतिराम का अग्रज था, एवं जिन्होंने 'शिवराज भूषण' की रचना की थी।

दृष्टान्त

जितहि बिंब प्रतिबिंब गति, कवि भूषण निज होइ।
कवित मांझ तंह जानिये, दृष्टान्ता पै सोइ॥
—अलंकार प्रकाश

जग समूह जुग धर्म जंह, जिमि बिंबहि प्रतिबिंब।
सुकवि कहत दृष्टान्त है, जो मन दर्पन बिंब॥
—ललित ललाम

निदर्शन

एक अर्थ की सरस जंह, अर्थ दूसरो ठानु।
कवि भूषण कहि कवित में, तहां निदर्शन जानु॥
—अलंकार प्रकाश

सदृस वाक्य जुग अर्थ को, जहां एक आरोप।
बरनत तहां निदर्शना, कवि जनमत अति ओप॥
—ललित ललाम

अनन्वय

एकहि को जो कीजिये, उपमित अरु उपमान ।
ताहि अनन्वय कहत हैं, कवि भूषण कवि जान ॥

—अलंकार प्रकाश

जहां एक की बात कहे, उपमेयो उपमान ।
तहां अनन्वै कहत हैं, कवि मतिराम सुजान ॥

—ललित ललाम

व्याजस्तुति

कीजै निंदा पै जहां, बहुत बड़ाई होय ।
करत बड़ाई निंदई, जित व्याजस्तुति सोइ ॥

—अलंकार प्रकाश

निंदा में स्तुति पाइये, स्तुति में निंदा होइ ।
व्याज स्तुति सो कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ ॥

—ललित ललाम

'अलंकार प्रकाश' की रचना संवत् १७०५ में होना सिद्ध है और 'शिवराज भूषण' की रचना संवत् १७३० में, जैसा शिवराज भूषण के इस छंद में पाया जाता है —

सम सत्रह सै तीस पर, शुचि वदि तेरह मान ।
भूषण शिव भूषण कियो, पढ़ियो सकल सुजान ॥

'ललित ललाम' संवत् १७१८ और संवत् १७१६ में रची गई है और बूंदी नरेश भाऊ सिंह का राज्य काल १७१५ से १७३८। भूषण का महाकवि मतिराम से जेष्ठ होना सभी अन्वेषकों ने माना है। अलंकार प्रकाश के रचनाकाल से भी इसकी पुष्टि होती है। 'अलंकार प्रकाश' भूषण का प्रथम ग्रंथ प्रतीत होता है। 'अलंकार प्रकाश' के अध्ययन से इन दोनों कवियों का सगा भाई होने का भ्रम भी दूर हो जाता है। इनको जो वंश-भास्कर मुंशी देवी प्रसाद, श्री शिव सिंह सेंगर एवं श्री गुलामअली बिलग्रामी आदि ने भाई-भाई होना लिखा है (यद्यपि प्रमाण किसी ने नहीं दिया) उससे एवं इनकी आपस में उपरोक्त घनिष्ठता होने से यह विदित होता है कि संभव है कि वे मौसेरे या ममेरे भाई रहे हों। बनपुर से त्र्यंबकपुर में जाकर इनका बसना सिद्ध होता है। ये स्थान एक दूसरे के बिल्कुल समीप है।

महाकवि भूषण के 'शिवराज भूषण' का निम्नलिखित छंद ही अब तक उनके वंश-परिचय का आधार रहा है। उससे भी उनका त्र्यंबकपुर में बसना ही विदित होता है।

दुज कनौज कुल कश्यप, रत्नाकर सुत-धीर।
बसत त्र्यंबकपुर नगर, तरनि तनूजा तीर॥

अब प्रश्न यह है कि 'अलंकार प्रकाश' के उपर्युक्त छंद तथा 'शिवराज भूषण' के छंद में पिता के नाम में जो अंतर मिलता है उसका क्या समाधान है। मेरा मत यह है कि 'रत्नाकर' महाकवि भूषण के पिता रामेश्वर का उपनाम था। जिस प्रकार मुरलीधर कवि 'भूषण' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए उसी तरह उनके पिता रामेश्वर 'रत्नाकर' नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। कवियों में यह प्रथा थी कि अपना नाम अथवा उपनाम (छाप) छंदों में उपयुक्त स्थान पर रखते थे। इसी तरह भूषण ने इस छंद में अपने प्रसिद्ध 'भूषण' उपनाम के साथ-साथ अपने पिता रामेश्वर का 'रत्नाकर' उपनाम लिखना उचित समझा। अलंकार प्रकाश में कवि ने अधिकतर 'भूषण' उपनाम से ही अपने को व्यक्त किया है। परंतु वहां अपना नाम मुरलीधर भी लिखा जहां अपने पिता का वास्तविक नाम रामेश्वर कहा।

इस संबंध में यह बात भी विचारणीय है कि उस काल में बहुधा रत्नाकर, सुधाकर, आदि नाम नहीं होते थे वरन् रामेश्वर, शंकर, विश्वनाथ आदि नाम अधिक प्रचलित थे। भूषण की अन्य रचनाओं की तरह इस ग्रंथ के प्रकाश में न आने का कारण यह भी हो सकता है कि महाकवि भूषण उस काल में वीर रस के प्रतिनिधि कवि विख्यात हो चुके थे और संभव है इसी कारण 'अलंकार प्रकाश' को उन्होंने स्वयं भी ख्याति न दी हो।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि महाकवि भूषण छत्रपति शिवाजी के राज्यकाल में वयस्क हो चुके थे और शिवराज भूषण की रचना उन्होंने छत्रपति शिवाजी के दरबार में संवत् १७३० के लगभग जाकर की थी। संभाजी एवं साहूजी के राज्यकाल में भी भूषण विद्यमान थे जैसा भूषण कृत 'शिवबावनी' एवं उनके स्फुट छंदों से सिद्ध होता है। संभाजी का राज्यकाल संवत् १७३७ से १७४६ तक रहा और साहूजी संवत् १७६६ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात कैद से छूटकर दक्षिण आये। काल - विचार से भूषण का जन्म यदि संवत् १६७० के लगभग माना जाता है तो संवत् १७६४ में उनकी आयु ६४ वर्ष की होती है। १०० वर्ष की उम्र के भीतर बहुत से कवियों ने अपनी रचनाएँ की हैं। भूषण का तो दीर्घायु होना प्रसिद्ध ही है इसलिये ६४ वर्ष की आयु में साहूजी की प्रशंसा में रचना करना असंभव नहीं वरन् पूर्ण विश्वसनीय प्रतीत होता है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष : ६० संवत् २०१२ : अंक २

●

भारतीय पोथियों का प्रवास

[श्री वाचस्पति गैरोला]

भारत ज्ञानियों, पंडितों, कवियों और कलाकारों का देश रहा है। शास्त्र-चिंतन और साहित्य-निर्माण उसके दो सनातन व्यवसाय रहे हैं। तपःपूत भारतीय महर्षियों ने अपने जीवन के क्षण-क्षण विद्याध्ययन और विद्या-वितरण जैसे महान् कार्यों को संपन्न करने में व्यतीत किए। अपने पूर्व पुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में हमें जो संपत्ति उपलब्ध हुई वह थी हमारी साहित्य-संपत्ति। परंपरा से प्राप्त भारत का यह साहित्य-धन आज भी भारतीय एवं विदेशीय ग्रंथालयों में हस्तलिखित पोथियों के रूप में सुरक्षित है। भारत के इस अतुल विद्या-धन का उपयोग सारा संसार शताब्दियों से करता आ रहा है। भारत की यह ज्ञान-संपत्ति किस प्रकार विदेशों को प्रवासित हुई, इसका भी एक रोचक इतिहास है।

अपने इस बृहद्-वांग्मय के प्रति भारतीय विद्वान् तब जागरूक हुए, जब अमूल्य एवं अप्राप्य हस्तलिखित पोथियों के बृहत्संग्रह विदेशों को प्रवासित हो चुके थे। राजनीतिक उथल-पुथलों के कारण भारत को जो अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी वह था उसके प्राचीन साहित्य का अपहरण। समय-समय पर आततायियों द्वारा जिन असंख्य भारतीय पोथियों की होली जलाई गई उसकी तो गणना ही नहीं की जा सकती; किंतु भारतीय ज्ञान के जो बृहद्-भंडार आज भी विदेशों में दिखाई दे रहे हैं उनके संबंध में तो प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो यहाँ के प्रतिकूल जल-वायु ने प्राचीन पोथियों को असमय ही ग्रस लिया दूसरे जो कुछ बच पाई थीं उनसे विदेश ही लाभान्वित हुए। अनुकूल जल-वायु के कारण जो भारतीय पोथियाँ चीन, तिब्बत और नेपाल प्रभृति देशों में जीवित रह सकी हैं, प्राचीनता की दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम की विनाशक आँधी ने, जो एक दिन अरब के मरुस्थल से उठी थी, भारत के जिन विशाल ग्रंथालयों को

विनष्ट किया वह इतिहास की एक अमिट घटना है। साथ ही इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जा सकता है कि विदेशी शासकों ने भारत की इस साहित्य-संपत्ति का जिस क्रूरता और स्वार्थपरता से अपहरण किया उसका अभाव भी सदा बना रहेगा।

मध्य एशिया

विशेषतः तिब्बत, नेपाल और यहाँ तक कि चीन, जापान, अमेरिका, इंग्लैंड तक भारत से हस्तलिखित पोथियाँ पहुँचीं। पुरातत्व के खोजियों ने मठ-मंदिरों, गिरे हुए घरों, पुराने टीलों और बालू के नीचे से अनेक महत्वपूर्ण पोथियों को खोज निकाला। इन पोथियों में ताड़पत्रीय पोथियाँ थीं। असीरिया, बेबिलोन और मिस्र के ऐतिहासिक पुस्तकालयों की भाँति प्राचीन भारत में भी पुस्तकालयों की कमी न थी। तक्षशिला, नालंदा, नदिया, मिथिला, तथा राजाभोज के पुस्तकालय के अतिरिक्त मध्य-कालीन भारतीय पुस्तकालयों में शाहंशाह अकबर का राजकीय पोथीखाना और अरबी-फारसी भाषाओं की विख्यात विदुषी औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा का सुप्रसिद्ध पुस्तकालय भारतीय इतिहास की स्मृति मात्र रह गए हैं; असंख्य बौद्ध-विहारों और जैन उपाश्रयों के पोथी-संग्रह भी कथावशेष रह गए हैं।

चीन, जापान, तिब्बत, ब्रिटेन आदि देशों में जो असंख्य एवं मूल्यवान् भारतीय पोथियाँ प्रवासित हुईं उनकी तथ्य-विवरणिका प्रस्तुत करना कठिन ही नहीं असंभव भी है, किंतु उसकी रूप-रेखा मात्र से ही विदित हो सकता है कि राष्ट्र की यह दुर्लभ-संपत्ति समय-समय पर किस प्रकार हम से दूर होती गई।

चीन में

ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर विदित होता है कि चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचारकार्य ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व से ही आरंभ हो गया था। हान्-वंश के सम्राट मिंग अथवा मिंगी ने सन् ६४ ई० में अपने कुछ पंडितों को बौद्ध-दर्शन संबंधी साहित्य की खोज और ज्ञान-प्राप्ति के लिए भारत भेजा। किंतु खोतान में उन पंडितों की भेंट चीन जाने वाले कुछ भारतीय बौद्ध भिक्षुओं से हो गई और वे सब चीन को लौट गए। इन भारतीय बौद्ध-भिक्षुओं के नाम थे काश्यप मातंग (किआ-एहमोतांग) और धर्मरत्न या गोवर्धन (धु-फा-लन्)। ये प्रथम भारतीय भिक्षुद्वय जब चीन में प्रविष्ट हुए तो सम्राट ने उनका आदर-सत्कार किया और उनके निवास-स्थान के लिए लोयांग में श्वेताश्व (पाइ-मा-स्म) नामक विहार का निर्माण कराया। कुछ दिनों बाद लोयांग का वह बौद्ध-विहार बौद्ध-संस्कृति का सुप्रसिद्ध केंद्र बन गया। सम्राट् मिंग का शासनकाल सन् ५८–७५ ई०

है। ये भिक्षुद्वय अनेक बौद्ध धर्म विषयक पोथियाँ साथ ले गए और वहाँ जाकर उन्होंने उनका अनुवाद किया। काश्यप मातंग ने चीनी भाषा में पहले-पहल जिस पोथी को अनूदित किया उसकी एक प्रतिलिपि आज भी शांतिनिकेतन के संग्रहालय में विद्यमान है।

उत्तरी तातार के वई-वंश की राज-महिषी बु ने ५१८ ई० में सुंग-युन् और हुई-सेंग नामक पंडितों को ग्रंथ-संग्रह के लिए उज्जयिनी और गांधार भेजा। इन पंडितों ने कुछ दिन भारत में रह कर ज्ञानार्जन किया और स्वदेश लौटते समय १७० महत्वपूर्ण पोथियाँ साथ लेते गए। चीन के दूसरे सम्राट् बु ने ५१९ ई० में पोथियों के अन्वेषणार्थ मगध में अपने पंडितों को भेजा। मगध के तत्कालीन राजा जीवगुप्त ने उन चीनीपंडितों का अच्छा समादर ही नहीं किया; अपितु अपने राज्य में बौद्ध-पोथियों का संग्रह कर अपने पंडित परमार्थ के साथ उन्हें चीन वापस भेजा। इसी प्रकार इ-एह के राजा चि ने ५७५ ई० में ग्यारह विविध भाषा-विद् विद्वानों को भारत भेजा। वे विद्वान् लगभग ढाई सौ पोथियाँ चीन ले ही जा रहे थे कि उन्हें रास्ते में विदित हुआ कि चेऊ-वंश तथा बु-वंश के राजा बौद्धधर्म-द्रोही बन गए हैं। फलतः वे तुर्किस्तान में ही रुक गए और जिनगुप्त प्रभृति भारतीय बौद्ध-भिक्षुओं के सहयोग से उन्होंने उन भारतीय पोथियों का चीनीभाषा में अनुवाद किया। सम्राट ताई-चि ने भी १५० भिक्षुओं को भारत भेजा और वे असंख्य महत्वपूर्ण ग्रंथ साथ ले गए।

इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध परिव्राजकत्रय फा-हियान्, हुएन्-त्सांग और ईत-सिंग कई वर्षों की भारतीय यात्रा के बाद सहस्रों पोथियाँ और महत्वपूर्ण आलेख चीन ले गए। फा-हियान् पहिला चीनी यात्री था जिसने भारतीय इतिहास पर काफी शोध किया। यह बौद्ध भिक्षु काशगर-खोतान होता हुआ पहले-पहल कश्मीर में प्रविष्ट हुआ और संपूर्ण उत्तरी भारत तथा मगध आदि प्रदेशों का भ्रमण कर ताम्रलिप्ति से सुभद्रपथ द्वारा सिंहल होता हुआ १५ वर्ष बाद लौट कर चीन गया। भारत के अतिरिक्त श्री लंका से भी यह यात्री अनेक पोथियाँ साथ ले गया था। इसी यात्री के साथ चे-येन और पाओ-युन् नामक दो भिक्षु और आए थे, जिन्होंने कश्मीर में रुककर संस्कृत-पोथियों का अनुवाद कर चीन भेजा।

दूसरे चीन यात्री हुयेन्-त्सांग के विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ लिखता है कि 'यह यात्री मार्ग की अनेक कठिनाइयों को पार करता हुआ साथ में बुद्ध भगवान् की मूल्यवान् स्वर्ण-रजत-प्रतिमाएं और २० घोड़ों पर ६५७ बृहत्काय भारतीय

पोथियाँ भी लेता गया। अपने जीवन का शेष भाग उसने उन पोथियों का चीनी-भाषांतर करने में बिताया। ६६१ ई० तक उसने ६४ ग्रंथों का अनुवाद कर डाला था।[1] वह ग्रंथ-संग्रह ५२० जिल्दों में विभाजित था जिसको सिगान्-फु के हुँग-फु बिहार में रखा गया। १७ वर्ष बाद वह लौटकर गया।

ईत्सिंग तीसरा खोजी था जो जावा, सुमात्रा, मलय, नीकोबर होकर ताम्रलिप्ति के मार्ग से भारत आया। श्रीविजय (सुमात्रा) में उसने संस्कृत का अध्ययन किया और नालंदा, राजगिरि, बुद्धगया, वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती तथा वाराणसी प्रभृति भारतीय विद्या-केंद्रों तथा ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण कर लगभग ४०० बौद्ध-पोथियों को वह जाते समय साथ लेता गया। कुछ पोथियों का अनुवाद उसने सुमात्रा में बैठ कर किया। ६८६ ई० में वह स्वदेश लौटा।

और भी कई चीनी-बौद्ध भारत आये। शिह-चे-मंग और फा-यंग नामक भिक्षु-द्वय भी अनेक ग्रंथ चीन ले गए। शिह-चे-मंग को कुसुमपुर (पटना) निवासी रेवत नामक ब्राह्मण से अनेक सुंदर और व्यवस्थित पोथियाँ प्राप्त हुई थीं। फा-यंग २५ भिक्षुओं को भी साथ लाया था। वे यहाँ से जिस महत्त्वपूर्ण पोथी को चीन ले गए उसका नाम था—अवलोकितेश्वर-महास्थानप्राप्त-व्याकरणसूत्र। चीन को जितनी भी पोथियाँ प्रवासित हुईं उनमें अधिकांश संस्कृत-भाषा की थीं।

नंदी अथवा पुण्योपाय नामक एक भारतीय बौद्ध भिक्षु सिंहल से महायान और स्थविरवाद के लगभग १५०० ग्रंथ लाद कर चीन ले गया, जिनमें कई पोथियों का चीनी भाषा में सफल अनुवाद हुआ।

आज भी चीन में राष्ट्र-निर्माण के साथ-साथ साहित्य-निर्माण की आधुनिकतम वैज्ञानिक योजनाओं को बड़े चाव से प्रोत्साहन दिया जारहा है। संप्रति चीन में छः बृहत्-पुस्तकालय हैं—राष्ट्रीय पीपिंग-पुस्तकालय, नान्किंग-पुस्तकालय, चुंग्किंग्-पुस्तकालय, लान्-चौ-पुस्तकालय, बन्यांग-पुस्तकालय और बू-छांग-पुस्तकालय। राष्ट्रीय पीपिंग-पुस्तकालय चीन का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। इसकी गणना विश्व के बृहत्तम पुस्तकालयों में की जाती है। इस पुस्तकालय की स्थापना का का श्रेय मिंग (१३६८-१६४४ ई०) और छिंग (१६४४-१९११ ई०) वंशीय राजाओं को है। इसमें संप्रति देशी-विदेशी भाषाओं की लगभग २५ लाख पुस्तकें विद्यमान हैं, जिनमें बौद्ध सूत्रों के अकेले ४,३०० भाग हैं, जो सुंग-वंशीय युग (११४९-११७३ ई०) में लकड़ी के ब्लाकों द्वारा छापे गए थे।

जापान में

चीन से बौद्धधर्म का प्रचार जिन-जिन देशों में हुआ, जापान का उनमें प्रमुख स्थान है। जापान में छठीं शताब्दी के आस-पास बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ। बौद्धधर्म को अधिक स्थायी और व्यापक बनाने के हेतु अनेक बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा बहुत-सी संस्कृत-पोथियाँ चीन से जापान ले जाई गईं। बौद्ध-धर्म की इन पोथियों ने और बौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने बौद्ध-धर्म के प्रति जापान में एक उत्कंठा जागरित कर दी। फलतः वहाँ की एक शिंशु (सुखावती) नामक बौद्ध-संस्था ने अपने दो सुयोग्य विद्वानों, बनयोयु-नाजिओ और कासावारा, को १८७६ ई० में संस्कृत भाषा के अध्ययनार्थ आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में भेजा। कासावारा की कुछ समय बाद ही मृत्यु हो गई। तीसरे जापानी पंडित ताकाकुसू भी आक्सफर्ड से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर जापान वापस गए। उक्त पंडितद्वय ने जापान में संस्कृत-भाषा का अच्छा प्रचार करने के साथ बाहर से आई हुई बौद्ध-पोथियों का बड़े मनोयोग से अध्ययन तथा अनुवाद किया।

जिस समय मैक्समूलर आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक थे उस समय उन्होंने नाजिओ और ताकाकुसू द्वारा जापान से एक 'सुखावती व्यूह' नामक संस्कृत पोथी को अवलोकनार्थ मँगाया। वह पोथी चीनी-भाषा में अनूदित थी और उसका उच्चारण जापानी लिपि में उल्लिखित था। तदुपरात भी महापंडित मैक्समूलर द्वारा अनेक महत्वपूर्ण हस्तलिखित और प्रकाशित संस्कृत-ग्रंथ जापान से आक्सफर्ड मँगाए गए, उनकी प्रतिलिपियाँ कराई गईं और आज भी वे ग्रंथ और उनकी प्रतिलिपियाँ आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के बोडलियन ग्रंथालय में सुरक्षित हैं। उनमें प्राकृत और संस्कृत में लिखी हुई कुछ ताड़पत्रीय पोथियाँ तो बड़े ही महत्व की हैं। सिंहली और बर्मी लिपियों में लिखी हुई कुछ पाली-पोथियाँ भी जापान से प्राप्त हुई हैं।

काश्यप, धर्मरक्ष, धर्मपाल, बोधिरुचि, बोधिधर्म, कुमारजीव, परमार्थ, प्रज्ञतर प्रभृति भारतीय बौद्धपर्यटक बौद्धधर्म के प्रचारार्थ न केवल दुर्गम पर्वत-पथों को पारकर जापान आदि देशों में असंख्य भारतीय पोथियाँ साथ ले गए; अपितु उन्होंने उन देशों की भाषाओं में भी अद्भुत कृतियों की रचनाकर अपने प्रखर पांडित्य और साथ भारत के नाम को भी गौरवान्वित किया।

तिब्बत में

किंवदंती है कि तिब्बत के नरेश अंबु के राजप्रासाद में दैवयोगात् ऊपर से एक ऐसी पेटी गिरी जिसमें 'करण्ड-व्यूहसूत्र' की एक हस्तलिखित पोथी, 'ओं मणि पद्मे हुं'

एक लिखित मंत्र तथा स्वर्ण-चैत्य एवं चिंतामणिकी एक मूर्ति विद्यमान थी। यह किंवदंती उतनी प्रामाणिक न भी हो; किंतु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्य देशों की भाँति तिब्बत में भी भारतीय पोथियाँ बहुत बड़ी संख्या में प्रवासित हुईं। अनेक बौद्ध-पर्यटकों और धर्म-प्रचारकों के साथ ऐसी असंख्य मूल्यवान् पोथियाँ भारत से तिब्बत को गईं, जो संप्रति भारत और संसार में कहीं भी अनुपलब्ध हैं। काल-कवलित हो जाने के उपरांत आज भी ताड़पत्र, भोजपत्र और मांडपत्र पर लिखी हुई पाँचवीं से दशवीं शताब्दी तक की सहस्रों पोथियाँ तिब्बत में पाई जाती हैं।

सन् ६१६ ई० में थौमी-संभोत नामक विद्वान् ने भारत में आकर ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया और वह 'व्याकरणमूल-त्रिंशद-नाम' तथा 'व्याकरण-लिंगावतार' नामक व्याकरण-ग्रंथों को अनेक अनूदित ग्रंथों सहित तिब्बत ले गया; जिनका परिचय समय-समय पर मिलता रहा। १०१३ ई० में अपनी शिष्यमंडली के साथ सुप्रसिद्ध अनुवादक धर्मपाल और १०४२ ई० में अतिशा नामक भारतीय पंडित तिब्बत गए और वहाँ उन्होंने तंत्र-ग्रंथों का सफल अनुवाद किया।

अनेक विद्याप्रेमी और बौद्ध धर्मानुयायी नरेशों ने भारतीय विद्वानों को तिब्बत आमंत्रित किया। ऐसे नरेशों में किलि-सो-त्सान का नाम उल्लेख्य है। इन विद्यानुरागी नरेशों ने संस्कृत पोथियों के अध्ययनार्थ खोतान और भारत से पंडितों को बुलाया। इन्हीं के राज्यकाल में चीन से प्राप्त 'सुवर्ण-प्रभात-सूत्र' और 'कर्मशतक' का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। अनुवादक विद्वानों में धनशील, यज्ञवर्मा और जिनमित्र प्रभृति भारतीय भिक्षुओं के नाम उल्लेख्य हैं। इसी समय सुप्रसिद्ध पंडित अग-सोम ने तिब्बती भाषा में आयुर्वेद, ज्योतिष और तंत्रविषयक संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद किया।

नालंदा विश्वविद्यालय के अनुकरण पर लासा में सम्ये नामक महाविहार की स्थापना इसी उद्देश्य को लेकर की गई थी कि सरलता-पूर्वक भारतीय पोथियाँ वहाँ एकत्र की जा सकें और भारतीय पंडितों के सहयोग से उनके तिब्बती भाषा में अनुवाद किए जा सकें। 'महाव्युत्पत्ति' नामक संस्कृत-तिब्बती महाकोश के अनुवादक पद्मसंभव और कमलशील नामक विद्वान् सन् १८७४ ई० में भारत आए और अनेक महत्वपूर्ण पोथियाँ तिब्बत ले गए। नागार्जुन, चंद्रकीर्ति, अश्वघोष, वररुचि, रविगुप्त और कालिदास प्रभृति आचार्यों-महाकवियों की कृतियाँ तिब्बत पहुँचीं जो एक दिन सफल तिब्बती-अनुवाद के रूप में वहाँ प्रचारित हुईं। 'रामायण' और 'महाभारत' की अनूदित पोथियों से वहाँ

की जन-प्रकृति अत्यधिक प्रभावित हुई और जहाँतक बन सका भारत से हस्तलिखित पोथियाँ तिब्बत को प्रवासित होती गईं।

हाल ही में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी तिब्बत-यात्रा के समय धर्म, दर्शन, व्याकरण और काव्य-विषयक अनेक भारतीय पोथियों को खोज निकाला। उन पोथियों में तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई भगवदत्तकृत 'माघ काव्य' की टीका 'तत्त्व कौमुदी' के अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन-विषयक आचार्य बुद्ध श्रीज्ञान (आठवीं शताब्दी) कृत 'अभिसमयालंकार' की टीका 'प्रज्ञाप्रदीपावली' और 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

कुन्-दे-लिंग महाविहार में रखी हुई कुछ ताड़पत्रीय पोथियों का भी राहुल जी ने पता लगाया। वहाँ उन्हें नैयायिक धर्मकीर्ति कृत 'वादान्य' पर नालंदा के आचार्य शांतरक्षित द्वारा लिखी हुई एक महत्वपूर्ण टीका उपलब्ध हुई। उस टीका-ग्रंथ का विस्तार लगभग २००० श्लोकों का था और लिपिकाल १० वीं शताब्दी। आचार्य धर्मकीर्ति का यह ग्रंथ आज केवल भोटिया-भाषा में लिखा हुआ मिलता है। इसका मूलरूप संस्कृत में था। उक्त विहार में ही प्राप्त अन्य दो पोथियाँ—'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता' और 'सद्धर्मपुंडरीक' के विषय में राहुल जी का कहना है कि "प्रज्ञापारमिता महाराजा महीपालदेव गौडेश्वर (६७४–१०२६ ई०) के समय में लिखी गई थी। इन दोनों पुस्तकों की काष्ठ-पट्टिकाओं पर सुंदर बहुरंगे चित्र बने हुए हैं। ··· ··· फुटकर पत्रों में तीन पत्र ऐसे भी मिले हैं जिनमें सिद्ध गोरखनाथ के पद हैं।"

आज भी तिब्बत के कान-जुर और तान्-जुर नामक बौद्ध-संग्रहों से विदित होता है कि भारत से कितनी अधिक पोथियाँ तिब्बत को प्रवासित हुईं।

ब्रिटेन में

भारत की जो अपरिमित साहित्य-संपत्ति ब्रिटेन को प्रवासित हुई उससे आज भी वहाँ के ग्रंथालय और संग्रहालय सुशोभित हो रहे हैं। लंदन-स्थित इंडिया आफिस, ब्रिटिश म्यूजियम, एशियाटिक सोसायटी और कामनवेल्थ जैसे विशाल संग्रहालय भारतीय ज्ञान से ज्योतित हो रहे हैं। अकेले कामनवेल्थके ग्रंथालय में ४००० से अधिक अमूल्य भारतीय पोथियाँ संगृहीत हैं, जिनकी भाषा हिंदी, संस्कृत, पाली, अरबी, फारसी तथा तिब्बती हैं और जो दर्शन, धर्म, संगीत, काव्य, नाटक, गणित आदि विषयों में वर्गीकृत हैं। वहाँ की लगभग १५० हिंदी की पोथियाँ ३०० वर्ष प्राचीन हैं। हिंदी की पोथियों में पृथ्वीराज रासो,

हम्मीर रासो, कबीरवचनावली, पद्मावत, रामचरितमानस, कविप्रिया, रामचंद्रिका और बिहारी सतसई की अनेक प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं।

कामनवेल्थ-पुस्तकालय में हस्तलिखित पोथियों को रखने की बहुत सुंदर व्यवस्था है। वहाँ का संग्रह भी अद्वितीय है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक दाराशिकोह ने जिन भारतीय उपनिषदों का सन् १६२४ ई० में अपने राज-पंडितों के सहयोग से संस्कृत से फारसी में अनुवाद किया उस अनुवाद का हिंदी-रूपांतर कामनवेल्थ-पुस्तकालय में विद्यमान है। इसका हिंदी-अनुवाद प्रह्लाद पंडित ने १७१८ वि० में किया था।

इसी प्रकार ब्रिटिश म्युजियम में भी अनेक नयनाभिराम अनुपलब्ध पोथियाँ संगृहीत हैं। संस्कृत आदि भाषाओं की पोथियों के अतिरिक्त वहाँ ६० हिंदी की पोथियाँ सुरक्षित हैं, जिनमें वल्लभाचार्य का जीवनचरित, लीलावती, वैद्यमनोत्सव, कोक-मंजरी, कोकसार-विधि, संगीत-दर्पण और संगीत-रत्नाकर आदि ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं।

इंडिया आफिस लाइब्रेरी के प्रकाशित कैटलॉग को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय पोथियों का कितना महत्वपूर्ण संग्रह वहाँ विद्यमान है। इंडिया आफिस में पोथियों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण पुरातत्व-संबंधी ऐतिहासिक आलेख भी सुरक्षित हैं। इस मूल्यवान् सामग्री को लौटाकर भारत लाने के लिए भारत सरकार की इस समय बातचीत हो रही है। इंडिया आफिस की हिंदी-पोथियों में रामायण, योगवाशिष्ठ भाषा, रामविनोदवचनिका, उपनिषत्-नृसिंहतापनी, छांदोग्य उपनिषत्, २३ उपनिषत्-संग्रह, अध्यात्मरामायण, कबीरवचनावली और हरिदास के पदों का अद्वितीय संग्रह विद्यमान है। इसी प्रकार एशियाटिक सोसायटी में रखी हुई हिंदी-पोथियों में राठौर-वंशावली, शाहीनामा, सोमवंश की वंशावली, राजतरंगिणी तथा भागवत पुराण जैसी दुष्प्राप्य पोथियाँ संग्रहीत हैं।

चीन, जापान, तिब्बत और ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य देशों में भी भारतीय-पोथियाँ प्रवासित हुईं। अरब, फारस और तुर्किस्तान में भी पर्याप्त पोथियाँ पहुँचीं। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी यह कार्य बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा आरंभ हुआ। धार्मिक एकता के नाते बाहरी देशों से अनेक भिक्षु तथा पर्यटक भारत आए और ज्ञान-अर्जन के साथ-साथ पोथियों को भी अर्जित कर वे साथ लेते गए। ब्राह्मी और खरोष्ठी भाषा में लिखित अनेक पोथियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। 'धम्मपद' की जिस ताड़पत्रीय पोथी को फ्रांसीसियों ने खोज निकाला था वह कुषाण-कालीन थी और उसका समय द्वितीय शतक था। इसी प्रकार

तुर्किस्तान और खोतान में भी खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा में लिखी हुई अनेक पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं।

मिस्र, यूनान और ईराक के व्यापारियों ने जब भारत की हस्तलिखित पोथियाँ अपने देशवासियों को दिखाईं तो उन्हें रत्नगर्भा भारतभूमि की इस साहित्य-संपत्ति को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। श्याम, कंबोडिया और मलय आदि द्वीपों में भी भारतीय पोथियाँ पहुँचीं। चीनी-यात्री ईत्सिंग के यात्रा-विवरणों से विदित होता है कि कोरिया के हइ-एह, हुएन्-ताइ (सर्वज्ञदेव) हुए-लुन्; बौद्धधर्म (फौ-तो-तमो) संघवर्मा (सेंग-किश्रा-पो-श्रो) प्रभृति भिक्षुओं द्वारा भी भारतीय पोथियाँ कोरिया को गईं।

'दशचित्र-लक्षण' नामक एक शिल्प-शास्त्र का ग्रंथ, जिसको लार्ड कर्जन ने अनेक ग्रंथोंसहित नेपालराज्य के पुस्तकालय से निकालकर विलायत भेजा, उसीकी एक प्रति तंजौर के प्राचीन पुस्तकालय में सुरक्षित थी। वह भी किसी प्रकार जर्मनी पहुँची और इलाफर नामक एक विद्वान् द्वारा अनूदित होकर लिपजिग के एक पुस्तकालय से सन् १६१३ ई० में उसका प्रकाशन हुआ। शिल्पशास्त्र जैसे असाधारण विषय पर लिखी गई उक्त पोथी को देखकर विश्व के विद्वानों को आश्चर्य हुआ कि भारत को हजारों वर्ष पूर्व शिल्पशास्त्र जैसे विषय की जानकारी ही नहीं थी; अपितु वहाँ उस विषय पर पुस्तकें भी लिखी जाने लगी थीं।

एतद्विषयक एक समाचार १ अगस्त, '५५ के दैनिक हिंदुस्तान में देखने को मिला था। सुपरिचित इतिहासकार एवं साहित्यकार डा० रघुवीर चीन, मंगोलिया और मध्य-एशिया से बहुत बड़ी संख्या में हस्तलिखित पोथियाँ, तक्षणकला और महत्वपूर्ण पुरालेखों को साथ ला रहे हैं। डा० रघुवीर चीन की राष्ट्रीय विज्ञान और साहित्य-परिषद् (एकेडेमिया सिनिका) के आमंत्रण पर चीन गए थे। वे जिस सामग्री को साथ ला रहे हैं उसका वजन लगभग १० टन है। विद्वानों का ऐसा विचार है कि इस अमूल्य संग्रह से भारत के साथ मध्य एशिया, मंचूरिया, चीन, जापान और कोरिया के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के (पहली शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक) युग को आलोकित किया जा सकेगा। भारत के लिए यह सामग्री बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।"

तिब्बत और मंगोलिया से डा० साहब को दस-सहस्र धार्मिक पोथियाँ प्राप्त हुई हैं। ग्यारहवीं शती में चित्रित चीनीत्रिपिटक भी उक्त सामग्री में सम्मिलित है। ८८ भागों का एक दूसरा संग्रह है जिसमें तांत्रिक मंत्रों से भरे दस-सहस्र पृष्ठ हैं। ८० से भी अधिक

ऐतिहासिक पुरालेखों के अवशेष, लगभग १०० मंगोलिया के भित्तिचित्र तथा पत्थर, लोहे और काठ की बनी मूर्तियाँ उक्त संग्रह में विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

इस प्रकार आमूल अनुशीलन करने के पश्चात् विदित होता है कि ईस्वी पूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर आज तक भारत की यह अद्वितीय राष्ट्रीय-संपत्ति कितने बड़े परिमाण में विदेशों को प्रवासित होती गई और उसके अभाव में हमारा साहित्यिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थान किस प्रकार गतिरुद्ध होता गया।

आज भी ऐसे मूल्यवान् ग्रंथरत्नों से भारत के सहस्रों घर भरपूर हैं। आज भी हमारे मठ-मंदिरों, ग्रंथागारों और राजा-महाराजाओं के सरस्वती-भंडारों में अपरिमित पोथियाँ सुरक्षित हैं। पचासों संस्थाएं और हजारों व्यक्ति इस क्षेत्र में कार्य करने की कामना करते हुए भी अर्थाभाव और अन्य अनेक कठिनाइयों के कारण आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। यह एक गंभीर विचार का विषय है कि अपने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए राष्ट्रीय सरकार और देश के विद्वानों का ध्यान इस दिशा में आकर्षित हो।

महाभारतकाल-निर्णय

[श्री पंड्या बैजनाथ जी]

भगवान श्री वासुदेव कृष्ण के स्वर्गारोहण पर कलियुग का आरंभ हुआ और तब ही से कलिसंवत् का भी आरंभ हुआ। ऐहोले के शिलालेख में एक जैन मंदिर बनने की तिथि भारत-युद्ध से ३७३५ और शकसंवत् के प्रारंभ से ५५६ वर्ष बाद की लिखी है (एपी० इंडि० जि० ६ – पृ० ७)। यह कलिसंवत् पंचांगों में बराबर चला आता है और सन् १९५६ ई० में वह कलिसंवत् ५०५७ है। इस हिसाब से कलिसंवत् ईस्वी सन् से ३१०१-२ वर्ष पूर्व आरंभ हुआ। यही श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण का समय था और इस हिसाब से महाभारतकाल ३१५२-५१ ई० पूर्व निकलता है क्योंकि युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर ने १५ वर्ष तक तो अपने चाचा धृतराष्ट्र की आज्ञानुसार और तदनन्तर ३६ वर्ष तक अपनी बुद्धि के अनुसार स्वतंत्र राज्य किया। इसके अंत में श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण का समाचार सुनकर परीक्षित को राज्य सौंप कर वे हिमालय को चले गये। रा० ब० चिंतामणि-विनायक वैद्य इस मत को स्वीकार करते हैं। पर पुराणों में एक दूसरा मत भी है जिससे प्रभावित होकर तिलक, दीक्षित, रमेशचंद्रदत्त, और बहुतसे पश्चिमीय विद्वान भी भारत युद्ध को १४००-१५०० ई० पू० हुआ मानते हैं। वह पुराण-मत इस प्रकार है :—

महादेवाभिषेकात्तु यावत्जन्मपरीक्षितः। एतद्वर्ष (एकवर्ष) सहस्रं तु ज्ञेयं-पंचाशदुत्तरं ॥ — वायुपुराण।

[महादेव के अभिषेक से परीक्षित के जन्मपर्यंत १००० वर्ष या १००१ वर्ष हुए और उसमें ५० वर्ष कम (या अधिक) हुए।]

महादेव नाम से किस राजा का अर्थ है यह संदिग्ध रहा। मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवत में भी ऐसे श्लोक हैं पर महादेव के बदले महापद्म का या नंद का नाम है। जिस समय विद्वानों ने महाभारतकाल १४०० संवत ई० पूर्व निश्चय किया तब इतने ही ज्ञान के आधार पर यह निर्णय हुआ था। पर इस निर्णय में इस लेखक की समझ में एक बात पर थोड़ा भी विचार नहीं हुआ ऐसा जान पड़ता है। वह श्रीमद्भागवत (११-३०), विष्णुपुराण (५-३७) और महाभारत (मूसलपर्व अ० ८) आदि ग्रंथों में लिखी बात है कि "श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण के सातवें दिन द्वारका समुद्र में डूब जायगी ।" हमें यह विचार करना आवश्यक

है कि क्या वास्तव में द्वारका समुद्र में डूबी और यदि डूबी तो उस प्रलय का असर और कहीं भी पड़ा या नहीं। हम जानते हैं कि बाइबिल में नोआ (Noah) के प्रलय की बात लिखी है और वह बात सुमेरियादेश के पुराने समय की है। वहाँ ईस्वी पूर्व ३००० वर्ष के लगभग एक प्रलय हुआ था जिसमें उस देश की राजधानी उर (Ur) ऊँचे पर होने के कारण बच गई; पर उसके आसपास का देश, ४०० मील लंबा और १०० मील चौड़ा, गहरे जल में डूब गया और इतने समय तक डूबा रहा कि वहाँ की बस्ती के ऊपर आठ फुट से अधिक पंक-मिट्टी का स्तर जमा हो गया। इसके नीचे तथा ऊपर बस्ती के चिह्न मिलते हैं। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि इसी प्रलय की बाढ़ में द्वारका भी डूब गई। कुछ भाग द्वारका का अब भी जल में खड़ा है जिसे 'बेट द्वारका' कहते हैं। यात्री वहाँ यात्रार्थ जाते हैं।

इस विषय पर भी पुरातत्व विशेषज्ञों का विचार होना आवश्यक ज्ञान पड़ता है कि कैलडिया के उर ग्राम के जलप्रलय के पश्चात् वहाँ पूर्व से आकर लोग बसे थे। वे कहाँ से गए थे ? वे विशेष सभ्य थे, खेती और धातुओं का ज्ञान जानते थे, उनके पास लेखन-कला भी थी। एक लेखक ने लिखा है कि असीरिया की राजधानी निनिवेह (Nineveh) का संस्कृत-भाषान्तर शोणितपुर है और इस आधार पर उनका अनुमान है कि श्रीकृष्ण वासुदेव के पोते अनिरुद्ध की पत्नी उषा असीरिया के राजा की पुत्री थी। निनिवेह पुराना ग्राम है पर उसका आदिकाल २००० ई० पू० से अधिक पूर्व का नहीं माना जाता। उर ग्राम के प्रलय का समय लगभग ३००० वर्ष ई० पू० का माना जाता है। प्रलय-जल से जो पंक-मिट्टी आठ फुट गहरी जमा हो गई थी उसके नीचे खोदने पर सुमेरियन लोगों की बस्ती के स्तर और सभ्यता के चिह्न मिले हैं जिनका काल ३००० वर्ष ई० पू० का निश्चय हुआ है। २७०० ई० पू० में उन्होंने बड़े-बड़े महल और मंदिर अपनी राजधानी में बनाए थे। सुमेरियन लोगों की सभ्यता का समय ४००० ई० पू० से आरंभ होता है। महाभारत-युद्धकाल-निर्णय करने में हमें इन बातों से सहायता मिल सकती है :—

(१) पुरातत्व-विशेषज्ञों-द्वारा हस्तिनापुर की पूरी-पूरी खुदाई होकर उसका अध्ययन करना और अन्य सभ्यताओं से उसका मिलान करना और काल-निर्णय करना।

(२) पुराणों में लिखा है कि कुछ क्षत्रिय देश से बाहर चले गए और व्रात्य हो गए। बोगाजकोई (Boghazkoy) एशियाई टर्की में २००० ई० पू० काल में हिट्टाइट (Hittites) या खत्ती लोगों की राजधानी थी। यहाँ एक लेख लगभग १३८० ई० पू० का मिला है जिसमें हिट्टाइट और उनके पड़ोसी मित्तानी (मित्राणि ?) लोगों के बीच में

संधि का वर्णन है। मित्तानी राजा के बाप का नाम दशरथ था। मित्तानी के देवता मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य, (अर्थात् अश्विन्) की साक्षी संधि-लेख पर दी गई है। ये ऋग्वेद के भी देवता हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये लोग उन आर्य लोगों में से हैं जो मध्य एशिया से चले थे और अति प्राचीन संस्कृत और उससे निकली भाषाएँ या पुरानी संस्कृत की बहिन भाषाएँ (Indo-European) बोलते थे। ये लोग मेसोपोटेमिया में एक समय प्रवेश कर गए और ४००-५०० वर्षतक राज्य करते रहे। इनमें बहुत से आर्य-नाम व्यवहृत होते थे जैसे ऊपरवर्णित नाम दशरथ। मित्तानी लोगों में एक रथ-दौड़ की पुस्तक थी जिसे किक्कुली नाम के लेखक ने लिखी थी। इसमें कई संस्कृत शब्द व्यवहृत हैं जैसे 'एकवर्तन', 'त्रिवर्तन', 'पंचवर्तन' 'शतवर्तन'। वर्तन शब्द का अर्थ रथों की दौड़ में मोड़ का है। ई० पू० की चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में संस्कृत से मिलते-जुलते नाम मित्तानी राजाओं के तथा बोगाजकोई के पत्रव्यवहारों में मिलते हैं। पारजिटर और जैकोबी इन मित्तानियों को भारत से गए व्रात्य बताते हैं। मेसोपोटेमिया में अभी खुदाई जारी है, ईंटों के लेख मिले भी हैं। हम लोगों को वहाँ की खुदाई का अध्ययन करते रहना चाहिए; कदाचित् उससे हमारे देश के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़े। हिट्टाइट जाति के साथ कास्साइट जाति (Kassites) का वर्णन आता है। ये भी आर्य जाति के थे पर वे कहां से गए थे? यह ठीक नहीं मालूम। क्या ये भारतवर्ष से निकले व्रात्यो में से थे? पुरातत्वज्ञों का विचार है कि आर्यलोग मध्यएशिया से रूस के दक्षिण होते हुए कुछ अंश में एशियामाइनर में उतरे। उनमें दो प्रकार के आर्य थे। मित्तानी राजाओ में दशरथ नामक राजा लगभग १४०० ई०पू० का था तो क्या हमारे राजा दशरथ इसके पूर्व हो चुके थे? इस प्रकार मध्यएशिया के पुरातत्व के अध्ययन से बहुतसी नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे असुर एक अनार्य जाति थी। भस्मासुर भारत के ईशान कोण में श्रीकृष्ण वासुदेव का समकालीन राजा था। असीरिया (Assyria) देश के लोग भी असुर कहलाते थे।

अंत में इस लेख से मेरा हेतु यही है कि महाभारत काल का प्रश्न उठाकर द्वारका के समुद्र में डूबने के काल और प्रश्न पर विशेषज्ञों का विचार जानूँ। मैंने कुछ पुरातत्वज्ञों से इस विषय में जिज्ञासा भी की, पर कोई उत्तर न मिला। पर अब आशा करता हूँ कि इस लेख के पत्रिका में छपने से कोई पुरातत्वज्ञ कृपाकर इस शंका का समाधान करेंगे।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष : ६० संवत् २०१२ : अंक २

उपनिषदों में तत्त्वचिन्ता का विकास

[श्री रमाशंकर तिवारी]

"आत्मा को ब्रह्म-रूप से प्रतिष्ठित करने वाले स्थिर ज्ञान" का निरूपण उपनिषदों की प्रतिपाद्य वस्तु है। प्रसिद्ध जर्मन पंडित शोपेनहर का कथन है कि औपनिषदिक सिद्धान्त एक प्रकार से अपौरुषेय ही हैं। ये जिनके मस्तिष्क की उपज हैं, उन्हें केवल मनुष्य कहना कठिन है। तत्त्वचिंता का जो विकास उपनिषदों में निदर्शित है, उसके तीन स्पष्ट सोपान परिलक्षित हैं। पहले में सृष्टि का मूलतत्त्व जल से लेकर किसी अगोचर सत्ता को कल्पित किया गया है; दूसरा ब्रह्मभावना के विकास से संबंधित है तथा तीसरे में आत्मा एवं ब्रह्म का तादात्म्य प्रतिपादित किया गया है।

(१)

बृहदारण्यक (५, ५) में कहा गया है कि यह व्यक्त जगत् पहले जल ही था। छान्दोग्योपनिषद् (७, १०) में जल का महत्त्व-निरूपण करते हुए कहा है कि 'यह पृथिवी मूर्तिमान् जल है तथा अंतरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति तथा कीट-पतंग एवं पिपीलिका तक जितने प्राणी हैं, वे सभी मूर्तिमान् जल ही हैं। अतः तुम जल की उपासना करो।' इस उद्धरण से जान पड़ता है कि जल के जीवन-विषयक महत्त्व की स्थापना करने के हेतु ही बात कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कही गई है। अमरकोश में जल को जीवन का पर्याय माना गया है।[1] किन्तु, कठोपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि आत्मा जल से उत्पन्न हुआ—"अद्भ्यः पूर्वमजायत।" इसी प्रकार, ऐतरेयोपनिषद् (१, १) में सृष्टिक्रम का वर्णन करते यह कहा गया है कि आत्मा अथवा परमात्मा ने जल को उत्पन्न करने के बाद उसमें से एक व्यक्ति को निकाला तथा उसे अवयवयुक्त किया और उसके भिन्न-भिन्न अंगों से जगत् एवं मनुष्य की रचना की। यहाँ यह जानकर किंचिद् आश्चर्य होता है कि आदिम यूनानियों तथा यहूदियों का भी अत्यंत प्रसिद्ध सिद्धान्त था कि 'सृष्टि का मूलतत्त्व जल ही है'। आधुनिक भूशास्त्र-वेत्ताओं ने

---

१ - आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्॥—अमरकोश।

पृथिवी को अत्युष्ण-प्रवाही पदार्थ का गोला मानते हुए भी, जगत् के भौतिक विकास में जल का महत्त्व स्वीकार किया है। उनका मत है कि पृथिवी ठंढी हो जाने पर धरातल पर जल दीख पड़ने लगा तथा चट्टानों का निर्माण प्रारंभ हो गया। इस निश्चैतन्य युग की प्रमुख चट्टानों में 'नीस' चट्टानें जल से ही निर्मित हैं तथा यह भी पता लगाया गया है कि पृथिवी पर उद्भूत प्रथम प्राणी प्रवालकीट (जूफाइट्स) थे जो समुद्र के गर्भ में निवास करते थे।

जल के बाद सृष्टि का मूलतत्त्व आकाश अधिक दार्शनिक ढंग से निरूपित किया गया है। छान्दोग्य प्रथम अध्याय के अष्टम एवं नवम खंड में, तीन व्यक्तियों—शिलक, दालभ्य तथा प्रवाहण—में उद्गीथ अर्थात् 'सामन्' की उत्पत्ति के विषय में हुए विवाद का वर्णन किया गया है। ये तीनों उद्गीथ-विद्या में कुशल पंडित थे। शिलक के पूछने पर दालभ्य ने कहा कि साम की 'गति' अथवा आश्रय स्वर है, स्वर की गति प्राण है, प्राण की गति अन्न है, अन्न की गति जल है, अथच जल की गति 'वह लोक' है। शिलक के फिर पूछने पर कि उस लोक की गति क्या है, दालभ्य ने कहा, "स्वर्ग-लोक का अतिक्रमण करके साम को किसी अन्य आश्रय में नहीं ले जाना चाहिए। हम साम को स्वर्गलोक में ही स्थित करते हैं क्योंकि स्वर्ग-रूप से ही साम की स्तुति की गई है।" शिलक ने इस व्याख्या का किंचिद् उपहास करते हुए कहा कि उस अवस्था में तो साम निश्चय ही 'अप्रतिष्ठित' अर्थात् निराधार सिद्ध होता है, और उसने अपनी ओर से यह बताया कि साम का आश्रय यह लोक ही है जिसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। तब इस कथन को अपूर्ण एवं तर्कहीन मानते हुए तीसरे व्यक्ति प्रवाहण ने अधिक सुस्पष्ट ढंग से यह बताया—"इस लोक की गति आकाश है। समस्त भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं तथा आकाश में ही विलीन हो जाते हैं। आकाश ही इनसे बड़ा है, अतएव आकाश ही इनका आश्रय है।"—(**"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यान्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥"**)

इस प्रकार विश्व का मूल उत्स किसी सूक्ष्म तत्त्व को मानने की प्रवृत्ति तैत्तिरीयोपनिषद् (वल्ली २, अनुवाक ७) में स्पष्ट लक्षित होती है जहाँ कहा गया है कि 'यह जगत् पहले 'असत्' (Non-being) था तथा इसीसे 'सत्' (Being) की उत्पत्ति हुई।' 'असत्' वाली इस कल्पना का परिवर्द्धित स्वरूप छान्दोग्य (अध्याय ३, खंड १९) में उपलब्ध होता है। विश्वोत्पादक अंडे का वर्णन करते हुए पंडितों का कथन है कि

यह अंड-सिद्धान्त यूनानियों तथा प्राचीन भारतीयों में भी प्रचलित था। छान्दोग्य में ऐसा उल्लेख है—"पहले यह आदित्य किंवा ब्रह्म 'असत्' ही था। वह 'सत्' हुआ। वह विकसित हुआ और एक अंडे में परिणत हो गया। वह अंडा एक वर्ष तक उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा। उसका एक खंड रजत (चाँदी) और दूसरा स्वर्ण हो गया। रजत-खंड ही यह पृथिवी है तथा स्वर्ण-खंड द्युलोक है। उस अंडे का ऊपरी स्थूल आवेष्टन पर्वत हैं तथा भीतरी सूक्ष्म भाग मेघ और नीहार (कुहरा) है। नदियाँ उसकी धमनियाँ हैं तथा वस्तिगत जल समुद्र है।"

लेकिन उपर्युक्त सूक्ष्म अथवा 'असत्' की कल्पना का उसी छान्दोग्य के छठें अध्याय के दूसरे खंड में स्पष्ट प्रत्याख्यान किया गया है। आरुणि अपने को वेदविद्या में पूर्ण पारंगत समझने वाले अपने पुत्र श्वेतकेतु को यह उपदेश देते हैं—"हे सौम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय 'सत्' ही था। अवश्य ही कुछ लोग यह कहा करते हैं कि आरंभ में एकमात्र 'असत्' ही था जिससे 'सत्' का उद्भव हुआ। किन्तु, हे सौम्य! ऐसा कैसे हो सकता था? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे संभव है? आरंभ में यह एकमात्र सत् ही था। उस सत् ने यह सोचा, 'मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ!' तब उसने तेज (उष्णता) उत्पन्न किया। × × × उस तेज से जल उत्पन्न हुआ, जल से अन्न का प्रादुर्भाव हुआ। × × × इन तीनों के संयोग से, जब वे सभी उस आरंभिक सत्ता से पूर्णतया ओतप्रोत हो गए, समस्त जगत् एवं मनुष्य की सृष्टि हुई।" यहाँ आरुणि ने यह निरूपण किया है कि विश्व का उद्भव चेतन से हुआ है, अचेतन से नहीं।

पुनः, बृहदारण्यक (तृतीय अध्याय, अष्टम ब्राह्मण) में याज्ञवल्क्य ने प्रसिद्ध विदुषी गार्गी के प्रश्नों के समाधान में 'अक्षरसत्ता' का प्रतिपादन किया है। गार्गी ने जनक की सभा में पंडितों के संमुख याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न किये। पहला प्रश्न यह था, "हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक के ऊपर है, जो भूलोक के भीतर है, जो द्युलोक एवं भूलोक के मध्य में है, जो स्वयं द्युलोक तथा पृथिवी है तथा जिसे भूत, वर्तमान एवं भविष्य कहते हैं — वह किसमें ओतप्रोत है?" याज्ञवल्क्य के यह उत्तर देने पर कि वह आकाश में ओतप्रोत है, गार्गी ने दूसरा प्रश्न किया कि आकाश किसमें ओत-प्रोत है? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य का कथन अत्यंत महत्त्व का है—"हे गार्गी! जिसमें आकाश ओतप्रोत है वह अविनाशी है। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म, न छोटा है, न बड़ा, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है,

न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न परिमाण है — × × × न वह कुछ खाता है और न कोई पदार्थ उसे खाता है। हे गार्गी ! ब्रह्मवेत्ता लोग ऐसा कहते हैं। उसी अक्षर की आज्ञा में सूर्य तथा चंद्र नियमित होकर स्थित हैं। × × × इसी अक्षर की आज्ञा से कुछ नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं। × × ×"[२]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जगत् के उद्भव एवं विकास के संबंध में चिंतन करते हुए उपनिषद् के ऋषियों ने क्रमशः जल तथा आकाश जैसे दृश्यमान पदार्थों को, तथा तदुपरान्त असत्, सत् एवं अक्षर जैसी अगोचर सत्ता को सृष्टि का मूलतत्त्व स्वीकार किया। किन्तु, इस प्रकार का चिंतन ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में भी हुआ था और विश्व-रचना के एक केन्द्रीय आधार की कल्पना स्पष्ट हो चुकी थी तथा एकत्ववाद (Monism) का आरंभ भी हो चला था। ऋग्वेद के विभिन्न सूक्तों में सृष्टि-रचयिता के रूप में कम से कम चार अभिधानों—ब्रह्मणस्पति, विश्वकर्मा, पुरुष तथा हिरण्यगर्भ—का उल्लेख उपलब्ध है। पुनः वैदिक युग के अंत तक 'प्रजापति' की कल्पना पूर्ण हो चुकी थी। तदुपरांत ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के काल तक इसे प्रमुखता मिल गई थी। किन्तु, वह सर्वश्रेष्ठ धारणा जो वेदांत का आधार है तथा जिसमें अन्य सभी कल्पनाओं का अन्तर्भाव हो जाता है, ब्रह्म की भावना थी। ब्राह्मण-ग्रंथों में इस भावना का उदय हुआ और उपनिषदों में इसे प्रधानता मिली। इसी कारण, औपनिषदिक दर्शन को कभी-कभी 'ब्रह्मवाद' की आख्या दी गई है।

(२)

पंडितों का अनुमान है कि ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द पहले-पहल, 'मंत्र', 'पूतज्ञान' अथवा 'रहस्यमय साधन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'ब्रह्मवत्' या 'ब्रह्मवर्चस्' जैसे यौगिक पदों में 'पुनीत-ज्ञान-निष्णात' दोनों का ही भाव सन्निहित है। 'ब्रह्म' शब्द से उस शक्ति का भी बोध होता था जो मंत्रों, स्तोत्रों एवं पूतज्ञान में गर्भित थी। इसी अंतिम अर्थ से,

---

२ - स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥"—बृहदारण्यक, ३, ८ (८)।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः; एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः; × × × एतस्य अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्यायां यां च दिशमन्वेतस्य ... ... पितरोऽन्वायत्ताः ॥"—वही, ३, ८ (९)।

आगे चलकर 'ब्रह्म' शब्द को सृष्टि के उस मूल-तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति हुई जो विश्व की रचना एवं धारणा करने वाली शक्ति थी।[3] बृहदारण्यक (१, ४) और मैत्री उपनिषद् (६, १७) में यह कथन है कि वस्तुतः आरंभ में यह जगत् ब्रह्म था। तैत्तिरीयोपनिषद् की दूसरी वल्ली के छठे अनुवाक में कहा गया है —

"× × × सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते।"

—"उस ब्रह्म ने यह कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ। अतः उसने तप किया। तप के उपरांत जो कुछ विद्यमान है, उस सबकी रचना की। इसे रचकर वह इसी में प्रविष्ट हो गया। इसमें प्रवेश कर, वह ब्रह्म मूर्त्त-अमूर्त्त, कथ्य-अकथ्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं (व्यवहार में समझा जाने वाला) सत्य-असत्य रूप हो गया। यह जो कुछ है, उसे ज्ञानी लोग 'सत्य' ही पुकारते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण की तरह ऋग्वेद, ब्राह्मणों तथा अन्य उपनिषदों में भी प्रजनन का ही सादृश्य दिखाया गया है। जैसा पहले संकेतित है, जल एवं आकाश से संबंधित कल्पनाओं में चेतनत्व का अभाव है, किन्तु उक्त स्थलों में इसका स्पष्ट संनिवेश हो गया है। यह बात भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' एवं ब्राह्मणों में सतत सृष्टि-रचना को धार्मिक महत्त्व तथा अनुष्ठान का कार्य बताया गया है।

'केन' उपनिषद् के तृतीय खंड में ब्रह्म के यक्ष-रूप में प्रादुर्भूत होने की कथा कही गई है। देवासुर-संग्राम में ब्रह्म ने, अलक्ष्यभाव से, देवताओं के लिए विजय प्राप्त की। इसे देवताओं ने अपने ही पराक्रम का फल समझा जिससे वे गर्व का अनुभव करने लगे। ब्रह्म ने उनका यह भाव समझ लिया और यक्ष के रूप में उनके संमुख प्रकट हुआ। देवता यह नहीं समझ पाए कि वह यक्ष कौन है। अग्नि उस यक्ष का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए देवों द्वारा भेजा गया। अग्नि ने बड़े गर्व-पूर्वक यक्ष से कहा कि पृथिवी में जो कुछ है, उसे मैं जला सकता हूँ। यक्ष ने एक तिनका दिया और जलाने के लिए कहा। संपूर्ण वेग का उपयोग करने पर भी वह उस तृण को जला न सका। तदनंतर वायु ने गर्व किया कि वह पृथ्वी पर की संपूर्ण वस्तुओं को उड़ा सकता है। किन्तु, वह भी

---

३ - Robert Ernest Hume : 'The Thirteen Principal Upnishads', पृ० १५।

उस तिनके तक को उड़ाने में असमर्थ रहा। अन्ततः इन्द्र स्वयं यक्ष के निकट गया, लेकिन यक्ष अंतर्धान हो गया। तब वहीं स्वर्णाभरणभूषिता परम शोभाशालिनी उमा का प्रादुर्भाव हुआ।[४] उमा ने यह समझाया कि—"यह ब्रह्म है। तुम ब्रह्म की ही विजय में इस प्रकार महिमान्वित हुए हो।" तभीसे देवताओं को ब्रह्म की प्रतीति हुई।

तथापि, इस ब्रह्म को समझना सामान्य बुद्धि के लिए सहज नहीं है। बृहदारण्यक के तीसरे अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में जल वाली पुरानी कल्पना को लेकर याज्ञवल्क्य से गार्गी प्रश्नों की झड़ी लगा देती है। इस प्रश्नोत्तर में गार्गी पूछती है कि भूः आदि समस्त लोक वा पदार्थ, जल, वायु, अंतरिक्ष, गंधर्वलोक, आदित्यलोक आदि क्रमशः किसमें व्याप्त हैं और याज्ञवल्क्य बताते हैं कि एक की व्याप्ति आगे दूसरे में है। याज्ञवल्क्य के यह बताने पर कि प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में ओतप्रोत है, गार्गी पुनः पूछ बैठती है कि "ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है ?" यहीं याज्ञवल्क्य उसे रोक देते हैं। और इस प्रश्न का उत्तर न देकर याज्ञवल्क्य बोले "हे गार्गि! इस प्रकार अति-प्रश्नों को तू न पूछ। इस प्रकार प्रश्न करने पर तेरा मस्तक गिर जायगा। तू उस देवता के विषय में अति-प्रश्न पूछ रही है जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिए।"

इसके उपरांत गार्गी चुप हो गई। याज्ञवल्क्य के अंतिम उत्तर में यह ध्वनि है कि संपूर्ण लोकलोकांतरों का एकमात्र आधार ब्रह्म किसी के आश्रित नहीं है, प्रत्युत उसी में सब पदार्थ ओतप्रोत हैं। अतः वह अतिप्रश्न के योग्य नहीं है तथा केवल अनुभव से जाना जा सकता है।

उसी बृहदारण्यक (५ । १) में पुरानी आकाश-कल्पना के साथ ब्रह्म-सिद्धांत का संयोग दिखाते हुए कहा गया है कि आकाश ही ओंकाररूपी ब्रह्म है ('ॐ खं ब्रह्म')। छान्दोग्य (४ । १०) में ब्रह्म को प्राण, आनंद तथा आकाश बताया गया है। तैत्तिरीय की तीसरी वल्ली में भृगु की ब्रह्मविषयक जिज्ञासा पर वरुण ने कहा—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।"

[जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से जीते हैं

---

४ - शंकराचार्य ने उमा को 'ब्रह्मविद्या' का प्रतीक माना है। —लेखक।

और अंततः विनाशोन्मुख होकर जिसमें लीन हो जाते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है।]

भृगु ने पिता का संकेत समझ कर तप किया तथा उपर्युक्त लक्षणों को घटाकर अन्न में ही ब्रह्म का निश्चय किया। किंतु, उसका संशय फिर भी बना रहा। पिता से उसने पुनः ब्रह्मोपदेश की प्रार्थना की। वरुण ने तप करने का आदेश दिया। पुनः अनेक बार तप करने पर अंतिम बार उसे अनुभव हुआ—

"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।"

[आनंद ही ब्रह्म है। क्योंकि आनंद से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनंद ही के द्वारा जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय सभी आनंद में ही समाविष्ट हो जाते हैं।]

ब्रह्म-विषयक सर्वाधिक महत्त्व का संदर्भ बृहदारण्यक के दूसरे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में आता है। काशी-नरेश अजातशत्रु से तत्त्व-ज्ञान पर गर्व करने वाले बालाकि ने क्रमशः द्वादश परिभाषाएँ ब्रह्म के संबंध में प्रस्तुत कीं—'आदित्य में रहने वाला पुरुष, चन्द्रमा में रहने वाला पुरुष, विद्युत् में रहने वाला पुरुष, आकाश में रहने वाला पुरुष, वायु में रहने वाला पुरुष, अग्नि में रहने वाला पुरुष, जल में रहने वाला पुरुष, दर्पण में पड़ने वाला पुरुष का प्रतिबिंब, गमनशील पुरुष के पीछे (पदचाप से) उत्पन्न होने वाला शब्द, दिशाओं में रहने वाला पुरुष, छाया से संयुक्त पुरुष, अथवा आत्मा में रहने वाला पुरुष ही ब्रह्म है जिसकी वह उपासना करता है।' अजातशत्रु ने बालाकि की प्रत्येक कल्पना का प्रत्याख्यान क्रमशः यह कह कर किया कि 'मैं समस्त भूतों के शिरोमणि एवं राजा, शुक्लवसनधारी सोम, तेजस्वी, पूर्ण तथा क्रियाशून्य, इन्द्र तथा वैकुंठ तथा अपराजिता सेना, 'विषासहि'[५] अर्थात् सहनशील, (सभी दृश्यमान पदार्थों के) 'प्रतिरूप', रोचिष्णु अर्थात् देदीप्यमान, प्राण, मृत्यु तथा आत्मन्वी (आत्मवान्) रूप में उसकी उपासना करता हूँ।' अपनी प्रत्येक उक्ति का तर्कयुक्त खंडन देखकर बालाकि हतगर्व हो गया और उसने अजातशत्रु से ही ब्रह्मोपदेश की याचना की। तब अजातशत्रु ने पहले मनुष्य की स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में आत्मा के 'महाराज' या 'महाब्राह्मण' के समान आचरण करने का वर्णन कर, अंततः जगत् की उत्पत्ति का यों निरूपण किया है—

---

५ - अग्नि में जो हविष्य डाला जाता है उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है, इसलिए अग्नि को 'विषासहि' अर्थात् 'सहन करने वाला' कहा गया है।

"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मना सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणं वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥"

[जिस प्रकार मकड़ा तंतुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जिस प्रकार अग्नि से अनेक छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण तथा समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उस आत्मा का ज्ञान ही सत्य का सत्य है। प्राण ही सत्य है और यह आत्मा उन्हीं का सत्य है अर्थात् उन सबों में यह आत्मा ही सत्य, अविनाशी है।]

इस उद्धरण में जहाँ तक ब्रह्म को किसी पदार्थ विशिष्ट में अवस्थित बताया गया है, वहाँ तक पुराने सृष्टि-सिद्धान्तों का अवलंबन किया गया मिलता है, किन्तु साथ ही इनका अतिक्रमण भी हो जाता है। क्योंकि इन पदार्थों के विषय में यह नहीं कहा जाता कि ये ही वे मूलतत्त्व हैं जिनसे विश्व की उत्पत्ति हुई, प्रत्युत उस आदि सत्ता के अधिष्ठान-रूप में ही इनकी स्वीकृति है। अजात द्वारा बालाकि के कथनों का प्रत्याख्यान एवं संशोधन यह निर्देश करता है कि वह सृष्टि-तत्त्व किन्हीं विशिष्ट पदार्थों में आधृत नहीं है। इन सभी सिद्धांतों का मूलाधार एक है (जो समग्र विश्व का रचयिता है)। यह मूल तत्त्व सुषुप्ति की अवस्था में अपने मानसिक अस्तित्व का स्वयं आधाता है, और यह तत्त्व आत्मा है अथच यह आत्मा उन संपूर्ण शक्तियों, संसारों, देवताओं, एवं जीवों का उन्मेषक है जो इसी कारण सत्य हैं कि यह उनका सत्य है।[६]

यह प्रसंग तत्त्वचिंता के विकास को आगे बढ़ाता है। परवर्ती संवादों में इसी सिद्धान्त की अतिरिक्त व्याख्या की गई है। बृहदारण्यक (चतुर्थ अध्याय, प्रथम ब्राह्मण) में जनक एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है। जनक ने छः ऋषियों से ब्रह्म के संबंध में छः भिन्न-भिन्न बातें सुनी हैं। उसने सीखा है—वाणी ब्रह्म है, प्राण ही ब्रह्म है, नेत्र ही ब्रह्म है, श्रोत्र ही ब्रह्म है, मन ही ब्रह्म है हृदय ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य प्रत्येक उक्ति को 'एक चरण वाले ब्रह्म' की द्योतक बता कर प्रत्येक दशा में उस इन्द्रिय-विशेष से द्योतित ब्रह्म के 'आयतन' (शरीर) एवं 'प्रतिष्ठा' (आश्रय) का उल्लेख कर यह बताते हैं कि वाणी-ब्रह्म की उपासना 'प्रज्ञा'-रूप से, प्राण-ब्रह्म की उपासना 'प्रिय'-रूप से, नेत्र-ब्रह्म की उपासना

---

६ - Robert Ernest Hume : The Thirteen Principal Upanishads,—पृ० ९८.

'सत्य'-रूप से, श्रोत्र-ब्रह्म की उपासना 'अनन्त'-रूप से, मनोब्रह्म की उपासना 'आनंद'-रूप से, तथा हृदय-ब्रह्म की उपासना 'स्थिति'-रूप से करनी चाहिए।

उक्त अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने यह उपदेश दिया है—

"× × × स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसंगो नहि सूज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति।"

[वह 'नेति', 'नेति' रूप से कथित आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह अशीर्य है क्योंकि वह कभी शीर्ण या क्षीण नहीं होता। वह असंग है क्योंकि वह कभी संग-लिप्त या आसक्त नहीं होता। वह अबद्ध है क्योंकि वह कभी पीड़ित तथा हिंसित नहीं होता। हे जनक! तुम निश्चय ही अभय-पद को प्राप्त कर चुके हो।]

इस कथन से ब्रह्म के संबंध में निम्नलिखित स्थापनाएँ होती हैं—

(क) ब्रह्म की अभिव्यक्ति मनुष्य की मानसिक क्रियाओं में होती है।

(ख) ब्रह्म इन्द्रियों तथा मानसिक संस्थानों में अधिवास करता है।

(ग) ब्रह्म बुद्धि, सत्यता, अनंतता, आनंदमयता, अविचलितता प्रभृति गुणों को धारण करता है।

(घ) यह एक 'आत्मा' है जिसका परिसीमन' कथमपि संभव नहीं है।

छांदोग्य के सप्तम अध्याय के प्रथम पच्चीस खंडों में सनत्कुमार के द्वारा देवर्षि नारद को दिए गए उपदेश में ब्रह्म के स्वरूप का अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। नारद ने जिन-जिन सत्रह विद्याओं में निपुणता प्राप्त की है वे, सनत्कुमार के अनुसार, केवल 'नाम' हैं यद्यपि 'नाम' भी ब्रह्म ही है। सनत्कुमार ब्रह्म के अधिकाधिक विशद स्वरूपों का परिगणन कराते हैं कि नाम, वाणी, मन (=आत्मा, लोक और ब्रह्म), संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान (विशेष ज्ञान), अन्न, तेज (उष्णता), आकाश, स्मरण आशा— क्रमशः एक के उपरांत दूसरे से बड़े हैं। परंतु सब से बढ़कर प्राण है—क्योंकि "जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार इस प्राण में समस्त जगत् समर्पित है। × × ×। प्राण ही पिता है। प्राण ही माता है। प्राण ही भाई है। प्राण ही आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है।"[७]

७ - छान्दोग्य, अध्याय ७, खंड १५ (१).

प्राण से बढ़कर अन्य तत्त्व कौन है, इसकी जिज्ञासा नारद ने नहीं की। उन्होंने समझ लिया कि उनका प्राण-रूप-आत्मा ही सर्वात्मा है। इस 'मिथ्याग्रह-विशेष' से विरत करने के हेतु श्री सनत्कुमार ने भूमा-संज्ञक सर्वातीत परमार्थ सत्य का उन्मीलन किया। अत्यंत पुष्ट तर्कना के द्वारा वे नारद से कहते हैं कि भूमा ही जानने योग्य है—

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।"

[निश्चय जो भूमा है, वही सुख है, अल्प में सुख नहीं। सुख भूमा ही है। भूमा की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।]

यह भूमा आत्म-रूप ही है, अतएव, "आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है। आत्मा ही आगे है। आत्मा ही दाईं ओर है। आत्मा ही बाईं ओर है। और आत्मा ही यह सब है। इस प्रकार देखने वाला, इस प्रकार मनन करने वाला, तथा विशेष रूप से इस प्रकार जानने वाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, एवं आत्मानंद होता है। वह स्वराट् है। संपूर्ण लोकों में उसकी यथेच्छ गति होती है। × × ×।"[८]

अंत में, छब्बीसवें खंड के प्रथम मंत्र में प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मंत्र, कर्म तथा अन्य सब कुछ का उद्भव आत्मा से ही बता दिया गया है।

इस प्रकरण से यह निष्पन्न होता है कि ब्रह्म (जो भूमा ही है) स्थूल दृश्यमान पदार्थों तथा मनुष्य की भीतरी मानसिक क्रियाओं में एकमात्र परम सत्य है। उक्त उपनिषद् (३, १८) में ही ब्रह्म की, अध्यात्मदृष्टि से तथा अधिदैवत दृष्टि से, व्याख्या की गई है। वहाँ कहा गया है कि अध्यात्म-दृष्टि से मन ब्रह्म है अथच अधिदैवत दृष्टि से आकाश ब्रह्म है। मनोरूप ब्रह्म के चार पाद हैं—वाक्, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र। आकाश-रूप ब्रह्म के चार पाद हैं—अग्नि, वायु, आदित्य तथा दिशाएँ। बाद के चार मंत्रों में मनोब्रह्म के चारों चरणों में से प्रत्येक को समान महत्त्व देकर उन्हें आकाश-ब्रह्म के चारों पादों पर आश्रित ठहराया गया है—'वाक् या वाणी ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है तथा वह अग्नि-रूप ज्योति से दीप्त होता और तपता है। प्राण ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है तथा वह वायु-रूप ज्योति से प्रकाशित होता और तपता है। चक्षु ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है तथा वह आदित्य-रूप ज्योति से आलोकित होता और तपता है। श्रोत्र ही ब्रह्म

---

८ छान्दोग्य—७, २५ (२) 'स्वराट्', जो अपना राजा स्वयं है।

का चतुर्थ पाद है तथा वह दिशा-रूप ज्योति से प्रकाशित होता और तपता है।' इस प्रकार, मन एवं आकाश, दोनों के ब्रह्मत्व तथा अन्योन्याश्रयत्व का स्पष्ट निरूपण किया गया है।

इस भाँति ब्रह्म-भावना के विकास में प्रथम यह स्पष्ट हुआ कि किसी विशिष्ट तत्त्व की अपेक्षा एक सार्वभौम तत्त्व की आवश्यकता अनुभूत हुई जिसमें विश्व के यावत् चराचर पदार्थों का संनिवेश हो जाय। और द्वितीय, यह कि यह सृष्टि-तत्त्व, किसी प्रकार, एक आत्मा है जो ससीम अहं से जुड़ा हुआ है। ब्रह्म की आरंभिक धारणा के अनुसार जगत् किसी तरह ब्रह्म से पृथक् था। तैत्तिरीय (२, ६) में कहा गया है कि 'ब्रह्म जगत् की सृष्टि कर इसी में समा गया।' पुनः छान्दोग्य (६, ३) में भी कहा है कि "उस देवता ने सोचा, 'मैं जीवात्मा-रूप से इन तीनों देवताओं (तेज, जल एवं अन्न) में अनुप्रवेश करूँ और नाम तथा रूप की अभिव्यक्ति करूँ।"

इन उक्तियों में ब्रह्म के—जो सृष्ट पदार्थों से पृथक् है—प्रविष्ट होने अर्थात् सर्व-व्यापक होने की धारणा का उदय परिलक्षित होता है। क्रमशः ब्रह्म-भावना का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, उसकी सर्वव्यापकता के बदले 'सब कुछ वही है' की धारणा प्रादुर्भूत हुई। सुतरां, विश्व का ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित हुआ कि 'यह अखिल विश्व ही ब्रह्म है।' ऊपर छान्दोग्योपनिषद् के तीसरे अध्याय से जो उद्धरण दिया गया है, वह 'सर्वात्मवाद' का असंदिग्ध प्रतिपादन है जिसके बीज, विकास की पूर्व-सरणियों में संनिहित थे। आगे चलकर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो०) तक पहुँचने में कितना गहन चिन्तन, कितनी अविचल अनुभूति एवं कितनी गंभीर प्रज्ञा तथा स्थिरमनस्विता की अपेक्षा पड़ी होगी—इसकी कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार सम्पूर्ण गोचर पदार्थों को पहले एक केंद्रीय तत्व में नियोजित कर यह निश्चय किया गया कि यह ब्रह्म ससीम अहं के साथ संबद्ध है।

(३)

ऋग्वेद (१० , ९०) में सृष्टि के मूल उत्स के रूप में विराट् पुरुष को कल्पित किया गया है। उसी कल्पना से प्रेरणा ग्रहण कर ऐतरेयोपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खंड (मंत्र ४) में कहा गया है कि उस विराट् पुरुष के मुख से वाणी उत्पन्न हुई और वाणी से अग्नि उत्पन्न हुई; नासिका-रंध्रों से प्राण उत्पन्न हुआ और प्राण से वायु। नेत्रों से चक्षुरिन्द्रिय और चक्षु से आदित्य उत्पन्न हुआ। कानों से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्र से दिशाएँ प्रकट हुईं। त्वचा से लोम और लोमों से ओषधि एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं।

हृदय से मन तथा मन से चंद्रमा प्रकट हुआ; नाभि से अपान और अपान से मृत्यु की उत्पत्ति हुई अथच शिश्न (जननेन्द्रिय) से रेतस् और रेतस् से जल उत्पन्न हुआ। इस कथन में दो बातें स्पष्ट हैं—(१) यह कि इस विश्वपुरुष के शारीरिक अवयव बहिर्जगत् के पदार्थों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और (२) यह कि उनका (शारीरिक अवयवों का) संबंध प्रत्येक व्यक्ति की दैहिक क्रियाओं से भी है। अर्थात्, हम इस विवरण से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अग्नि वाणी बन कर व्यक्ति के मुँह में प्रवेश कर गया। वायु श्वास बनकर उसके रंध्रों में प्रवेश कर गया। सूर्य ज्योति बन कर उसके नेत्रों में प्रविष्ट हो गया। दिशाएँ श्रोत्र (सुनने की शक्ति) बन कर उसके कानों में प्रविष्ट हो गईं। विटप एवं वनस्पतियाँ लोम बन कर उसकी त्वचा में समा गईं। चन्द्रमा मन (या मस्तिष्क) बनकर उसके हृदय में समा गया। अथच मृत्यु वीर्य बनकर उसके शिश्न में प्रविष्ट हो गया।[९]

पंडितों का अनुमान है कि मनुष्य की लघु सृष्टि (मैक्रोकॉज्म) तथा विश्व की महत्-सृष्टि (माइक्रोकॉज्म) में साम्य एवं सादृश्य के स्पष्ट प्रतिपादन का यह प्रथम विवरण है यद्यपि छान्दोग्य में इसका यथेष्ट संकेत उपलब्ध है।[१०] ऋग्वेद (१० । १६ । ३) में मृत व्यक्ति को संबोधित कर कहा गया है कि तेरी आँखें सूर्य को चली जायँ और तेरा निःश्वास पवन में मिल जाय। बृहदारण्यक अध्याय ३, ब्राह्मण २ (१३), में आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से यह जिज्ञासा की है—**"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवति।"** [हे याज्ञवल्क्य ! जिस समय इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाता है, चक्षु आदित्य में लीन हो जाता है, मन चंद्रमा में लीन हो जाता है, श्रोत्र दिशा में लीन हो जाता है, शरीर पृथिवी में तथा हृदयाकाश भूताकाश में लीन हो जाते हैं, लोम ओषधियों में तथा केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं अथच लोहित एवं वीर्य जल में स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है ?]

---

९ - R. E. Hume : The Thirteen Principal Upanishads, पृ० २४.

१० - "तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च।"

—छान्दोग्य, अ० ३, खंड १८ मंत्र २

अतिभाग की उक्त जिज्ञासा में इस तथ्य की निर्व्याज स्वीकृति उपलब्ध है कि मरने के समय पार्थिव काया का जो विघटन होता है उसमें मनुष्य की जीवन-क्रियाओं के यावत् आश्रय बर्हिजगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों में विलीन हो जाते हैं। व्यक्ति एवं विश्व में इस प्रकार तादात्म्य स्थापित करने के अनंतर—ज्यों-ज्यों सूक्ष्म चिंतना का विकास होता गया—द्वितीय सोपान इस बात की कल्पना था कि विश्व एक 'आत्मा' है तथा व्यक्तिशः जो भिन्न-भिन्न वा पृथक्-पृथक् आत्माएँ दीख पड़ती हैं, वे इसी विश्वात्मा के लघु रूप हैं। यह कल्पना तत्त्वचिंता के विकास को आगे बढ़ाती है। बृहदारण्यक् (१, ४, ७) में तथा श्वेताश्वर (२, १५) में इस कल्पना का अस्पष्ट एवं आलंकारिक प्रस्फुटन मिलता है कि आत्मा ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। यहाँ यह स्मरण रखना अपेक्षित है कि ब्रह्म-सिद्धांत तथा आत्म-सिद्धांत, दोनों लगभग साथ-साथ विकसित होते रहे और एक दूसरे को प्रभावित करते गए; अंततः दोनों का सामंजस्य हो गया।

आत्म-तत्त्व की स्थापना के अनंतर उसके संबंध में भी वही विकास-सरणि अपनाई गई जो ब्रह्म के विषय में अपनाई गई थी। बृहदारण्यक्, अध्याय १, ब्राह्मण ४ के प्रथम पाँच मंत्रों में, ब्रह्म के समान, आत्मा के संबंध में भी प्रजनन-सिद्धांत का निरूपण प्राप्त होता है। यथा—"सृष्टि से पूर्व यह सब पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने चारों ओर आलोचन किया और अपने से भिन्न कुछ न देखा। किंतु, वह विराट् पुरुष भयभीत हो गया, प्रसन्न नहीं हुआ क्योंकि एकाकी पुरुष 'रममाण' नहीं होता। तब उसने अपने से भिन्न दूसरे का संकल्प किया। वह विराट् इतने परिमाण वाला हो गया जैसे परस्पर आलिंगित स्त्री-पुरुष होते हैं। उसने अपने देह को ही दो भागों में विभक्त कर दिया जिससे पति और पत्नी प्रकट हुए। वे दोनों भिन्न-भिन्न जानवरों—यथा, गाय-बैल, घोड़ी-घोड़ा, गर्दभी गर्दभ इत्यादि—के युग्मों के रूप में बदलते गए तथा इस प्रकार, चींटी से लेकर स्त्री-पुरुष के जितने जोड़े हैं, उन सब की उन्होंने उत्पत्ति की।"

प्रजनन की इस अपरिष्कृत कल्पना के अनंतर, छांदोग्य के पंचम अध्याय के ग्यारह से अठारह खंडों तक, आत्मा के संबंध में अधिक गंभीरता-पूर्ण विचार किया गया है। पाँच शास्त्र-पारंगत महागृहस्थ (**'महाशालाः महाश्रोत्रियाः'**) एकत्र होकर परस्पर विचार करने लगे कि—**"को न आत्मा किं ब्रह्म।"** [हमारी आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ?] शंकराचार्य ने अपने भाष्य में कहा है कि इस जिज्ञासा के मूल में आत्मा एवं ब्रह्म की अभेदता सिद्ध है। यहाँ हमें इस बात का आभास मिल जाता है कि आत्म-सिद्धांत तथा ब्रह्म-सिद्धांत में धीरे-धीरे अज्ञात-रूप से, संबंध स्थापित हो रहा था। वे पाँचों गृहस्थ, एक छठे

आत्मतत्त्वज्ञ के सहित, केकयकुमार नरेश अश्वपति के निकट गए जो वैश्वानर आत्मा को भली भाँति समझता था। अश्वपति के पूछने पर, एक ने कहा कि मैं द्युलोक की ही आत्मा के रूप में उपासना करता हूँ। इस कथन की आंशिक सत्यता ही अश्वपति ने स्वीकार की। शेष पाँचों ने क्रमशः यह कहा कि वे आत्मा की उपासना आदित्य, वायु, आकाश, जल, तथा पृथिवी के रूप में करते हैं। अश्वपति ने, प्रत्येक मान्यता की आंशिक सत्यता स्वीकार करते हुए भी, वैश्वानर-आत्मा की सर्वव्यापकता का उपदेश दिया। शंकराचार्य भाष्य में कहते हैं कि 'वैश्वानरवेत्ता सर्वात्मा होकर अन्न भक्षण करता है, अज्ञानियों के समान पिंडमात्र में अभिमान करके अन्न नहीं खाता।'—('वैश्वानरवित्सर्वात्मा सन्नन्नमत्ति, न यथाज्ञः पिण्डमात्राभिमानः सन्नित्यर्थः।')

इस प्रकरण में आत्म-सिद्धांत से संबंधित नवीन कल्पना का उद्भव हुआ है। ब्रह्म के ही समान, आत्मा को पहले प्रकृति के विशिष्ट पदार्थों में स्थापित किया गया है। फिर उन्हें, आत्मा मानते हुए भी, आत्मा के विभिन्न अंग वा अवयव कहा गया है। तब, स्थूल दृष्टि से दीखने वाले पदार्थों के धरातल का अतिक्रमण कर, बड़ी बुद्धिमानी पूर्वक, चरम सत्य के अन्वेषण में संलग्न उन छहों जिज्ञासुओं का ध्यान एक सर्व-ग्राह्य एवं सर्वलीन विश्वात्मा की ओर आकृष्ट किया गया है जिसकी कल्पना मानव-आत्मा के रूप में की गई है तथा जिसके साथ मानव-आत्मा का तादात्म्य निश्चित किया गया है। स्पष्ट ही, यहाँ एक नवीन विचार-सरणि का उद्घाटन हुआ है। प्रारंभिक स्तरों पर चिंतन बहिर्मुख था, किन्तु अब वह अंतर्मुख हो गया है जो एक गंभीरतर दार्शनिक विवेचन के प्रारंभ का द्योतक है।

सर्वव्यापी आत्मा का—जो मनुष्य के भीतर भी है और प्रकृति की दृश्यमान वस्तुओं में भी है—उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। बृहदारण्यक् (२।५) में आत्मा की सर्वव्यापकता का विशद निरूपण मिलता है—'इस पृथिवी में जो यह प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष है और हृदय में जो यह शरीर-उपाधि वाला प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है। जो जल में यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह शरीर के भीतर वीर्यसंबंधी प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है। जो यह अग्नि में प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष है, और जो शरीर में वाणीमय प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत और वही ब्रह्म है। जो यह वायु में प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मप्राण तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत एवं वही ब्रह्म है। जो यह आदित्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है

और जो यह अध्यात्म-चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा है, वही अमृत एवं ब्रह्म है जो यह दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है यह वही है जो आत्मा है, जो ब्रह्म है, जो यह चंद्रमा में तेजोमय, प्रकाश-स्वरूप, मनः संबंधी अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा, अमृत एवं ब्रह्म है, विद्युमत् में स्थित तेजोमय पुरुष तथा त्वचा के तेज में रहने वाला अध्यात्म-तेजस तेजोमय पुरुष, दोनों आत्मा, अमृत एवं ब्रह्म हैं। मेघ में स्थित तेजोमय अमृतमय पुरुष तथा स्वर में रहने वाला अध्यात्म प्रकाश-स्वरूप अमृतमय पुरुष, दोनों ही आत्मा, अमृत एवं ब्रह्म हैं। × × × × यह जो मनुष्य-जाति में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा एवं ब्रह्म है; जो यह इस आत्मा में प्रकाशरूप अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा प्रकाशरूप अमृतमय पुरुष है, वही आत्मा, अमृत एवं ब्रह्म हैं। अथन्च, **(स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषांभूताना ँ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चारा सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥)**

इस प्रकार, ब्रह्म और आत्मा की दोनों कल्पनाएँ पहले पृथक्-पृथक् सी जान पड़ती थीं क्योंकि ब्रह्म बहिर्जगत् से अधिक संबोधित था और आत्मा, मनुष्य या प्राणिमात्र के आभ्यंतरिक सत्य की विज्ञप्ति करता था। अंततोगत्वा उनका समाहार हुआ और ब्रह्म तथा आत्मा एक दूसरे के पर्याय बन गए। ऐतरेयोपनिषद् के तीसरे अध्याय के प्रथम खंड के तृतीय मंत्र में उस आत्मा का वर्णन किया गया है जिसकी उपासना हमें अभीष्ट होनी चाहिए—

"एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥"

["यह (प्रज्ञान-रूप आत्मा) ही ब्रह्म है। यही इन्द्र है। यही प्रजापति है। (अग्नि इत्यादि) सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल एवं तेज, ये पंच महाभूत,

---

११ बाद के मंत्रों में आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर', दूसरा पाद 'तैजस', तीसरा पाद 'प्राज्ञ' तथा चतुर्थ पाद 'तुरीय ब्रह्म' बताया गया है। यह 'तुरीय' न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, अपितु अदृष्ट, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, शांत, शिव एवं अद्वैतरूप है तथा विज्ञेय है। —लेखक।

वही आत्मा है। वही क्षुद्र जीवों के सहित उनके बीज तथा अन्य अंडज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गाय, मनुष्य तथा हाथी है, अथच (इनके अतिरिक्त) जो कुछ भी यह जंगम (पैर से चलने वाला) पतत्रि (आकाश में उड़ने वाला), स्थावर-रूप (वृक्ष, पर्वतादि) प्राणिवर्ग है, वह समस्त प्रज्ञानेत्र[१२] एवं प्रज्ञान (निरुपाधिक चैतन्य) में ही स्थित है। लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा ही उसका लयस्थान है, अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।"

प्रस्तुत उद्धरण में जीव, ब्रह्म, पंच महाभूत तथा सृष्टि के अन्य संपूर्ण पदार्थ एक ही केंद्रीय सूत्र में अनुस्यूत हो गए हैं। छान्दोग्य के षष्ठ अध्याय के ८ से १६ खंडों तक, बार-बार आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से यह उपदेश दुहराया है—

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।"

[हे श्वेतकेतु! यह जो अणिमा (जगत् की मूल अणुता बताई गई है)[१३] है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है।]

इस प्रकार हमने देखा है कि भारतीय चिंतन में किस प्रकार निखिल विश्व में व्याप्त एवं स्पंदनशील एक ही परमतत्त्व का अनुसंधान संपन्न हुआ है। वैदिक बहुदेववाद का रहस्य समझने के लिए ऋग्वेद के **"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"** को स्मरण रखना अत्यावश्यक है जिसका विशद् विस्तार उपनिषदों में किया गया है। आज की उपलब्ध 'बृहद्देवता' में इस एकत्ववाद (Monism) का स्पष्ट स्वीकरण प्राप्त है। सायणाचार्य ने सभी नामों से परमात्मा के ही पुकारे जाने की बात असंदिग्धतया कही है—**"तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।"** उपनिषदों में इसी सत्य का अत्यंत तर्कपूर्ण, मार्मिक एवं प्रभावशाली निरूपण हुआ है।

[यह आत्मा सब भूतों का अधिपति है तथा सब प्राणियों में राजा है। जैसे रथ के पहिए में सब अरे समर्पित रहते हैं, वैसे ही इस आत्मा में संपूर्ण भूत, संपूर्ण देव, समस्त लोक, समस्त प्राण तथा समस्त आत्माएँ समर्पित हैं।]

इसी प्रकार, उक्त उपनिषद् के तीसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण के प्रथम मंत्र में याज्ञवल्क्य ने उषस्तचाक्रायण को यह उपदेश दिया है—"हे उषस्त! तेरा हृदयगत

---

१२ प्रज्ञा अथवा चैतन्य ही जिसका नेत्र, अर्थात् व्यवहार का आधार हो, वह 'प्रज्ञानेत्र' कहा जायगा।

१३ दे० छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्यार्थ (गीता प्रेस), पृ० ६३७

आत्मा ही सब में विराजमान है। हे उषस्त ! जो प्राणवायु से चेष्टा करता है, जो अपानवायु से अपानक्रिया करता है, जो व्यानवायु से व्यानक्रिया करता है, जो उदानवायु से उदानक्रिया करता है, वही तेरा आत्मा सर्वांतर है, सब के अभ्यंतर स्थित है।" तात्पर्य यह है कि काष्ठ-यंत्र के समान देहेंद्रियसंघात में होने वाली प्राणन आदि समस्त चेष्टाएँ जिसके द्वारा की जाती हैं, वही हमारा आत्मा सर्वांतर है। (विद्याविनोद भाष्य, पृ० १५४)।

उपर्युक्त अवतरणों से यह कल्पना पुष्ट होती है कि बहिर्जगत् एवं अंतर्जगत् का तत्त्वभूत सार एक आत्मा है जो मनुष्य के भीतर तथा बाहर, समान-रूप से, विद्यमान है। इस आत्मा को प्रथम उद्धरण में समस्त सृष्टि का 'मधु', 'अमृत', 'तेज' एवं 'ब्रह्म' भी कह दिया गया है। एक भिन्न प्रकार के चिंतन द्वारा, जो वस्तुनिष्ठ (objective) अधिक था, सृष्टि के एक मूल तत्त्व ब्रह्म की कल्पना की गई थी। यद्यपि यह ब्रह्म वस्तुपरक सत्ता था, तथापि उससे जो अस्तित्व के ऐक्य (unity of being) का द्योतन होता था, उसके आलोक में चेतन की चेष्टाओं एवं अस्तित्व की अवहेलना नहीं हो सकती थी। ये चेष्टाएँ एवं क्रियाएँ उतनी ही सत्य थीं जितने सत्य सूर्य, चंद्र, जल, आकाश इत्यादि थे। जैसा प्रस्तुत निबंध के दूसरे भाग में दिखाया गया है, आत्मा के भीतर रहने वाले ब्रह्म की भावना का भी विकास हो रहा था। किंतु, मनुष्य के भीतर तथा बाहर में ऐक्य स्थापित करने के लिए एक ऐसे सृष्टि-तत्त्व की अपेक्षा बनी थी जो अधिक चेतन एवं व्यक्तिपरक (पर्सनल) हो। इसके निमित्त, विश्वपुरुष की पुरानी कल्पना अधिक उपयुक्त थी, यह पहले भौतिक एवं शारीरिक थी। बाद में इसका विकास तथा परिष्कार होता गया और अंततः अपेक्षाकृत एक अधिक आध्यात्मिक आत्मा की कल्पना प्रस्फुटित हुई जो चेतन एवं अचेतन, सब में, सम-भाव से, व्याप्त है तथा जो उनके पारस्परिक संबंध में अभिव्यक्त एकत्व ही है। (R. E. Hume)

तथापि, ये नव-अन्वेषित दो सृष्टि-तत्त्व, ब्रह्म तथा आत्मा, पृथक् एवं भिन्न नहीं हैं। प्रारंभ में उनकी एकता का केवल संकेत किया गया था, किंतु आगे चलकर, स्पष्ट शब्दों में इसका प्रतिपादन भी हुआ। मांडूक्योपनिषद् के दूसरे मंत्र में कहा गया है—**"सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।"**—'यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है, वह आत्मा चार पादों (अंशों) वाला है।'"

मुंडकोपनिषद् २, २, ५ में कहा गया है —

"यस्मिन्द्यौः पृथिवी चांतरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥"

[जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अंतरिक्ष एवं संपूर्ण प्राणों के सहित मन ओतप्रोत है, उस एक आत्मा (जो यहाँ परमात्मा या ब्रह्म का वाचक बन जाता है) को ही जानो, और अन्य बातों को छोड़ दो, यही अमृत (मोक्षप्राप्ति) का सेतु या साधन है ।]

उसी उपनिषद् में अन्यत्र (२, १-१) कहा गया है—

"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥"

[वह अक्षर ब्रह्म सत्य है । जिस प्रकार अत्यंत प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार, हे सौम्य ! उस अक्षर से अनेकविध जीव उत्पन्न होते हैं तथा उसी में पुनः विलीन हो जाते हैं ।]

श्वेताश्वर के प्रथमाध्याय के १५वें तथा १६वें मंत्रों में यही भाव यों चित्रित है—

"जिस प्रकार तिल को पेरने से तेल तथा दही को मथने से मक्खन पाया जाता है, अथवा जिस प्रकार नहर खोदने से पानी तथा अरणि-काष्ठ के संघर्षण से आग पाई जाती है, उसी प्रकार सत्य एवं तपस्या के द्वारा खोज करने पर अपनी आत्मा में ही परमात्मा प्राप्त होता है ।"

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष : ६० संवत् २०११ : अंक २

●

नागपुरी हिंदी

[विनयमोहन शर्मा]

क्षेत्र और बोलनेवालों की संख्या

डा० ग्रियर्सन ने अपनी लिंग्विस्टिक सर्वे जिल्द ६ में इसका क्षेत्र नागपुर जिला बताया है और इसके बोलने वालों में केवल उन्हींको संमिलित किया है जिनकी मातृ-भाषा हिंदी का ही कोई रूप है। उन्होंने नागपुरी हिंदी के जो उदाहरण दिए हैं वह ऐसे वर्ग के हैं जिसकी मातृभाषा बुंदेली है। ग्रियर्सन ने यहीं भूल की है नागपुरी हिंदी का क्षेत्र नागपुर ही नहीं नागपुर के निकटवर्ती जिलों तक, जिनमें प्राचीन विदर्भ के जिले भी संमिलित हैं, फैला हुआ है। और इसे बोलनेवाले हिंदी-भाषा-भाषी ही नहीं, अहिंदी-भाषा-भाषी भी हैं। वास्तव में यह व्यापारिक क्षेत्र तथा बाजार में विभिन्न-भाषा-भाषियों के बीच विचारों के आदान-प्रदान की बोली है। ग्रियर्सन ने अपनी उपर्युक्त सर्वे में इसके बोलने-वालों की संख्या १०५९०० लिखी है, जो आज इससे अत्यधिक बढ़ गई है। इसे वर्तमान नागपुर और विदर्भ प्रांतवासी दूसरी भाषा के रूप में बोलते हैं। यह किसी की मातृभाषा नहीं है। इसके क्षेत्र में बसा हुआ मारवाड़ीसमाज अपनी मातृभाषा मारवाड़ी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं के रूप में नागपुरी हिंदी और मराठी भाषाएँ बोलता है। इसी प्रकार तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि भाषा-भाषियों की भी दूसरी बोली नागपुरी हिंदी है।

नागपुरी हिंदी की विशेषताएँ

शब्दावली—क्यों कि नागपुरी हिंदी मातृभाषा के रूप में नहीं वरन् दूसरी भाषा के रूप में बोली जाती है अतः इसमें खड़ी बोली के शब्दों के साथ-साथ वक्ता की मातृभाषा

के भी कुछ सामान्य शब्द संमिलित हो जाते हैं। इस प्रकार नागपुरी हिंदी की शब्दावली में हिंदी की साहित्यिक भाषा में प्रचलित संस्कृत के कुछ तत्सम और बहुत से तद्भव शब्द तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के शब्दों के अतिरिक्त फारसी-अरबी मिश्रित उर्दू के सामान्य शब्द, मराठी के कुछ व्यावहारिक शब्द तथा वक्ता की मातृभाषा के भी कुछ शब्द संमिलित हैं।

ध्वनियाँ—नागपुरी हिंदी में प्रायः वे सभी ध्वनियाँ हैं जो खड़ी बोली में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त मराठी की 'च' (त्स) और 'ळ' ध्वनियाँ भी आ गई हैं। फारसी-अरबी की ध्वनियाँ इसमें नहीं आ सकीं। 'ऋ' का उच्चारण इसमें मराठी के समान 'रु' हो गया है। खड़ी बोली की कतिपय दीर्घ ध्वनियाँ ह्रस्व और ह्रस्व ध्वनियाँ दीर्घ हो गई हैं—जैसे, और = ओर, फिर=फीर आदि। 'ड' और 'ड़' में कोई भेद नहीं है। 'ङ' का उच्चारण ही नहीं होता। 'व' एवं 'ब' का उच्चारण-भेद स्पष्ट है।

उच्चारण में ध्वनिपरिवर्तन, आगम, लोप आदि

पदांत 'न' का 'ण' में परिवर्तन यथा कठिन=कठीण, कठिण। पदान्त 'ओ' का 'व' में परिवर्तन, यथा-जाओ = जाव तथा 'र' वर्ण के पूर्व 'औ' का 'हो' में परिवर्तन भी पाया जाता है यथा—

और = होर।

औरत=होरत।

'ह' की ध्वनि क्षीण होती जा रही है, जैसे —

(अ) शब्द के बीच और अंत में 'ह' का लोप पाया जाता है। यथा

तुम्हें = तुमें

साहब = साब

(आ) नागपुरी हिन्दी-शब्द के अंत में अनेक प्रयोगों में 'ह' का लोप और 'आ' का आगम दिखाई देता है। यथा—बारह = बारा, तेरह = तेरा।

शब्द के आदि के 'स' का 'छ' में परिवर्तन भी अनेकत्र मिलता है जैसे—सब = छब

कहीं कहीं 'ओ' का 'ऊ' में परिवर्तन हो जाता है, यथा—परसों = परसू

'ब' और 'ह' के एक साथ आजाने पर उनका 'भ' में परिवर्तन और 'ए' का आगम भी इस भाषा के प्रयोगों में देखा जा सकता है, जैसे –

बहन = भेन

पद में वर्णों के ऊपर अनुस्वार का उच्चारण लुप्त होता जा रहा है यथा—

नहीं = नही, पांच = पाच, नवां=नवा।

संज्ञा शब्द-रूप का वैशिष्ट्य

कुछ अकारांत संज्ञा-शब्दों का बहुवचन 'आ' और कभी-कभी 'आँ' से और कभी-कभी अन्तिम ध्वनि को हलन्त करने से भी बनता है—

बात = १ - बाता २ - बातां, ३ - बात्यां (बातां कर्ते कर्ते झोप लग गयी।)

आकारान्त संज्ञा-शब्द के अन्तिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व (हलन्त) करके उसमें या जोड़ देने से छोटेपन या तिरस्कार का भाव द्योतित होता है —

घीसा=घीस्या

संबोधन में भी यही रूप रहता है

(ओ घीस्या ! कां (कहां) जा रया है ?)

लिंग—खड़ी बोली के समान ही दो लिंग—स्त्रीलिंग और पुल्लिग — के रूप होते हैं। पर खड़ी बोली में जहाँ ईकारान्त पुल्लिग पद में 'इन' लगाने से स्त्रीलिंग होता है वहाँ नागपुरी हिंदी में मूल शब्द में 'अन' लगता है —

तेली=तेलन

गोली = गोलन

वचन—प्रायः खड़ी बोली के प्रत्यय लगकर बनते हैं। किन्तु ईकारान्त संज्ञा-पदों में 'ई' के स्थान पर 'या' लगाने की प्रवृत्ति है और उसका पूर्ववर्ती वर्ण हलन्त हो जाता है। जैसे -

रोटी=रोट्यां

गाली=गाल्यां

क्रमवाचक संज्ञा-शब्द—पहिला, दुसरा, तिसरा, चवथा, पाचवा, छठवा, सातवा, आठवा, नवा, दसवा आदि। खड़ी बोली में जहाँ सामान्य संख्या चार के बाद की शेष संख्याओं में 'वां' जुड़ता है वहाँ नागपुरी हिंदी में 'वा' जुड़ता है।

कारकों की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं —

कर्ता—ने,

कर्म और सम्प्रदाय —कू, कूं, को, के, करने

अपादान—सू, सूं, सो, से

संबंध—का, के, की

अधिकरण—मो, में, पे

सर्वनाम—व्यक्तिवाचक सर्वनाम के चिन्ह इस प्रकार हैं—

	एकवचन	बहुवचन
	उत्तम पुरुष—मे, हम	हम, अपन
कर्ता—	मध्यम पुरुष—तू, तुम	तुम, तूम
	अन्य पुरुष—वो	वो
कर्म—संप्रदान—	उ० पु० - मुजे, मुंजे, मुजक	हमे, हमकू, हमनेकू
	म० पुरुष—तुजे, तुजकू, तेरेकने	तुमकूं, तुम कू
	अन्य पुरुष—उसकू	उनकू

'अतएव' (इसलिए) के लिए 'करके' का प्रयोग मराठी के 'म्हणून' के अर्थ में व्यवहृत होता है।

व्याकरण-संबंधी अन्य विशेषताएँ--

अकर्मक क्रिया में कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग होता है यथा--

हमने एक दुसरे को मदत कना चाहये।

उन्ने मुंडी हलाया।

सहायक क्रिया के वर्तमान काल में 'हू' का उच्चारण प्रायः नहीं हो पाता यथा—'जाता उं।'

'ए' का 'य' में परिवर्तन हो जाता है, यथा—है=हय।

अकर्मक क्रिया के कर्ता में 'ने' चिह्न लगकर भी क्रिया में 'हूँ' लग जाता है यथा—

मैंने रोई हूँ, मैंने लाया हूँ।

किसी बात पर आग्रह प्रकट करने के लिए 'च' का प्रयोग किया जाता है, यथा—तुमकू चलनच पडेगा (तुम्हें चलना ही होगा)।

दक्खिनी हिन्दवी अथवा उर्दू का भी प्रभाव नागपुरी हिंदी पर परिलक्षित होता है। नागपुरी हिंदी में बुंदेली और मालवी का प्रामुख्य, जिसकी ओर ग्रियर्सन ने संकेत किया है, प्रायः अब नहीं के बराबर रह गया है। वह स्थानीय ध्वनि-प्रक्रिया कतिपय नई विभक्तियों और प्रत्ययों के साथ खड़ी बोली का मूल ढाँचा सुरक्षित रखे हुए है।

ग्रियर्सन ने अपने सर्वे में नागपुरी हिंदी का निम्नलिखित उदाहरण दिया है। इसे ग्रियर्सन ने बुन्देली बोली से आच्छादित कहा है—

"एक आदमी खे दो पोरवा हते। ओ में को नन्हो लरका बाप खे कि हे दादा मोरे हिस्सा को माल मोखे दे दे। फेर ओ ने अपनी जिनगी की कमाई दोई पोरयन खे बाटनी कर दई। आगे थोड़ेच दिन में नन्हें पोरया ने अपनी सब धन साफडी। फेर ऊ दूसरे मुलक में फिरन खे गओ। वहाँ अपनो सब पैसा ओ ने चहुलबाजी में उड़ा दओ।"

उपर्युक्त पंक्तियों में संप्रदान का 'ख' बुंदेली का नहीं; मध्यप्रदेश के खंडवा (निमाड़) जिले की बोली निमाड़ी का है। पोरयाँ भी निमाड़ी है। ग्रियर्सन का उपर्युक्त उदाहरण बाजार में बोली जानेवाली नागपुरी हिंदी का नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों से आकर बसे हुए परिवार बहुत काल तक अपने घर में अपनी क्षेत्रीय बोली बोलते रहते हैं। अतएव उदाहरण सामान्य जनता की सार्वजनिक रूप से बोली जानेवाली भाषा से लेना चाहिए। अब मैं आप के सम्मुख उस नागपुरी हिंदी के उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जिसे सामान्य लोग बाजारों में बोलते-पहचानते हैं।

नागपुरी हिंदी

"अब में आपके समोर नागपुरी हिंदी के नमुने सादर करता हु जिसको बाजार के लोक बोलते पिचानते हय।

गोविन्दा (किसन से)—कल बड़ी फजर अपन दोनों मिलके फिरने चलेगे। उधी से ठेसन निकल चलेगे होर वो बंबे मे टपाल डालके, हाटेल में हात-मु धोके, चा-फराळ लेके दवाखाने कु जायगे। मे केता हु भाऊ मुजे रात कू झोपच नी आती। वर्तमानपत्र लेके बेठता भोत कोसीस करता फीर बी आख लगतिच नई। तबयत खूप सभालता। दुपेर कू जादा खाता बि नई। श्याम को धोड़ने मे नागा बि नई करता। कुच समज में नई आता क्या करू। करके तो डाक्तर से फीर से तपासनी कराना हय। उसका पूराना बील की चुकती करना हय। पगार अभी हात मे आई नई। उसके बील का हफता देने कू पाकीट मे पैसे नई हय। तेरे कने हय कुच?

किसन—हव ना, खूप हय। मेरी थट्टा करते हो क्या? शेठ आदमी हो कुच बोलो। तुमारे खीसे में पेसे नई हय क्या? क्या फोक मारते हो भाऊ?

गोविंदा—तुमकू मेरी बाता झूट मालुम पडती हय तो कुछ हरकत नहीं। चल पास मे मेरा दोस रेता हे उसके पास से ला-लेंगे।

खड़ी बोली में रूपांतर

गोविंदा (किसन से)—कल बड़े सबेरे हम दोनों साथ-साथ घूमने (या टहलने) चलेंगे। उधर ही से स्टेशन निकल चलेंगे और वहाँ बंबे (लेटरबाक्स) में

चिट्ठी डालकर, होटल में हाथ-मुँह धोकर और चाय-नाश्ता लेकर अस्पताल आयेंगे। मैं कहता हूँ भाई मुझे रात को नींद ही नहीं आती। समाचारपत्र लेकर बैठता (हूँ)। बहुत कोशिश करता (हूँ)। फिर भी आँख लगती ही नहीं। तबीयत खूब संभालता (हूँ)। दोपहर को ज्यादा खाता भी नहीं। शाम को दौड़ने में नागा भी नहीं करता। कुछ समझ में नहीं आता (कि) क्या करूँ। इसीलिए डाक्टर से फिर से जांच करवाना है। उसका पुराना बिल भी चुकाना है। वेतन अभी हाथ में आया नहीं। उसके बिल की किस्त देने को जेब में पैसे नहीं हैं। तेरे पास है कुछ?

किसन—हाँ ना, खूब हैं। क्या मेरी मज़ाक उड़ाते हो? सेठ आदमी हो। सच बोलो। क्या तुम्हारे जेब में पैसे नहीं हैं? क्या गप मारते हो भाई?

गोविंदा—तुमको मेरी बातें झूठ मालूम पड़ती हैं तो कोई हर्ज नहीं। चल पास में मेरा दोस्त रहता है। उसके पास से ले आयंगे।

जिस प्रकार प्रेमचंद और प्रसाद में बनारसी और वृन्दावनलाल वर्मा में बुंदेली प्रभाव है, उसी प्रकार नागपुरी लेखकों में भी मराठीपन आने लगा है। यथा—

"हिंदु धर्म में वेद, स्मृति अनेक ग्रंथ हैं। परंतु उन सब ग्रंथों में सनातनी और नवमतवादी, भाविक चिकित्सक (समीक्षक) आदि सर्वमतों और पंथों के लोगों के लिए एक ही सर्वमान्य ऐसा गीता को छोड़कर और कोई ग्रंथ नहीं है।"

(गीताप्रणीत व्यवहारशास्त्र पृ० २)

"गीता ग्रंथ पर अनेक पंडितों ने और पंथवादियों ने चढ़ाए हुए अपने-अपने मतों के पे(ह)राव के कारण हरएक को अपने जीवन में साकार करने योग्य गीता का निश्चित मूलरूप पहिचानना कठिण हो गया है।" (वही) मुखपृष्ठ २

उपर्युक्त उदाहरणों से विदित हो जाता है कि नागपुरी हिंदी में मराठी-शब्दों का प्रवेश हो रहा है। संस्कृत और विदेशी शब्द भी अपने मूल तत्सम रूप का अर्थ न देकर मराठी अर्थ देने लगे हैं। उदाहरणार्थ हपता का अर्थ सप्ताह न होकर किस्त (इंस्टालमेंट) हो गया है। चिकित्सक वैद्य न रह कर आलोचक बन गया है। सादर करना उपस्थित करने के अर्थ में आता है। इसी प्रकार कई मराठी शब्द नागपुरी हिंदी में ही नहीं, आदर्श हिंदी में भी समाविष्ट हो गए हैं। उदाहरणार्थ—

शिस्त = अनुशासन
शिक्षण = शिक्षा

टीप = नोट

पावती = रसीद

मराठी का प्रभाव दक्खिनी हिंदवी, उर्दू (जिसे आज दक्खिनी हिंदी कहा जाता है) पर भी पड़ा है। १४ वीं शताब्दी से वहाँ की जनता का बराबर मराठी भाषा-भाषी जनता से संपर्क रहा है। मराठी में जोर देने के लिए 'ही' के अर्थ में 'च' का प्रयोग होता है—तुला आलेच पाहिजे (तुझे आना ही चाहिए)। दक्खिनी उर्दू या हिंदवी में भी इसी प्रकार 'च' प्रयुक्त होता है—"वली अपने च गम में नको होश।"—दक्खिनी का पद्य और गद्य पृष्ठ २३७।

मराठी का 'नहीं' अर्थ-बोधक 'नको' दक्खिनी हिंदवी में खूब प्रचलित है और उसकी एक विशेषता बन गया है —

ये बस्ती सो दुनिया पडे होकर दीवाना।

अरे मन नको रे नको हो दिवाना। (वही पृष्ठ २५६)

कहीं-कहीं दक्खिनी हिंदी पर मराठी के प्रभाव से कतिपय शब्दों का 'स' 'श' में परिवर्तित हो गया है और मराठी का होता (था) 'ता' बनकर आ गया है—

'स' का 'श' —

तीन सौ = तीन शे

पैसे = पैशे

सिखाया = शिकाया

'होता' का 'ता' —

लाया ता (लाया था)। गया ता (गया था)।

दक्षिण के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषकर नागपुरी क्षेत्र में यद्यपि मराठी ने हिंदी पर प्रभाव डाला है तो भी उसके व्याकरण का ढाँचा मूलतः सुरक्षित है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष : ६० संवत् २०१२ : अंक २

●

विमर्श

'हाल की 'सप्तशती' का काल

साहित्य में हाल की गाथासप्तशती का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है तथा वह अत्यंत मनोहारी शृंगारिक रचना है। कुछ विद्वान् उसे हाल राजा द्वारा निर्मित मानते हैं और कुछ उसे संगृहीत स्वीकार करते हैं। अभी तक अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि वह ईसवी पूर्व की रचना है। इसीलिए ऐतिहासिक भी उसकी कुछ गाथाओं के उद्धरणों को उपयोग में लेते आए हैं। हाल की वह गाथा सुप्रसिद्ध है जिसमें विक्रमादित्य का उल्लेख आया है, उसको लेकर एक प्रमाण माना जाता है कि ईसवी पूर्व प्रथम शती में भी विक्रमादित्य का हाल ने स्मरण किया है। किंतु नागरीप्रचारिणी पत्रिका के केशव-स्मृति-अंक में उक्त गाथा सप्तशती के विषय में श्री माथुर का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें योग्य लेखक ने विभिन्न तर्कों द्वारा, समसामयिक कवियों के नामोल्लेख आदि को लेकर यह बताने का प्रयत्न किया है कि यह सप्तसती बहुत अर्वाचीन है, प्रथम शती ई० पूर्व की नहीं। अवश्य ही लेखक के तर्कों की उचित समीक्षा होनी चाहिए। लेखक के तर्क सकृद्दर्शन में युक्तियुक्त प्रतीत होते लगते हैं, परंतु वे ही तर्क प्रथम शती के लिए भी सुसंगत हो सकते हैं। प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़ दें तो सप्तशती की पुरातनता में कोई बाधा नहीं आती दीखती। उनका विस्तृत उत्तर तो समय और सुविधा-सापेक्ष्य है। तथापि हम यहाँ एक मौलिक तर्क की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिसे उन्होंने सप्तशती को अर्वाचीन समझने में साधन मान लिया है। लेखक ने सप्तशती को वहिःसाक्ष्य की जिस प्रकार समीक्षा करके अपने विचारों की अनुकूलता समझी है, उसी प्रकार ग्रंथ के अंतःसाक्ष्य की भी समीक्षा करते हुए पृ० २६५ पर लिखा है—

"गाथा सप्तशती प्रथम शती की रचना नहीं हो सकती। इसका एक और स्पष्ट प्रमाण हमें अंतःसाक्ष्य से भी मिलता है। प्रथम शती में बौद्ध-धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। उत्तरापथ ही नहीं, दक्षिणापथ और देश-देशांतर तक सम्राट् अशोक के राज्य-

काल से ही बौद्ध धर्म का प्रसार हो चुका था। उस समय जनता में बौद्ध धर्म के प्रति आदर-श्रद्धा का भाव था, अनादर और घृणा का नहीं। देश की अधिकांश जनता बौद्ध-धर्म अंगीकार भी कर चुकी थी। ऐसी स्थिति में यह सहज कल्पना की जा सकती है कि ऐसे किसी संग्रह-ग्रंथ में, जो बौद्धधर्म के चरम-उत्कर्ष-काल में विरचित हुआ हो, यदि बौद्धों का कोई उल्लेख हो तो वह संमान-सूचक होगा, घृणा का व्यंजक नहीं। परंतु गाथा-सप्तशती में बौद्धधर्म के संबंध में केवल एक ही गाथा है, और उसमें बौद्ध भिक्षुओं का घृणास्पद उल्लेख हुआ है। चतुर्थ शतक की आठवीं गाथा में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस गाथा सप्तशती की गाथाओं में राधा, कृष्ण, गणेश, वामन, हर, गौरी, लक्ष्मीनारायण, कालिका, सरस्वती, आदि देवी-देवताओं के अनेक उल्लेख हैं उसमें बौद्ध-मत-संबंधी कोई उल्लेख नहीं है, और जो है भी वह उसके प्रति अपमानसूचक है।"

लेखक का उक्त उद्धरण बहुत स्पष्ट है। उनका यह आक्षेप कि प्रथम शती में बौद्ध-धर्म चरम उत्कर्ष पर था, ऐसी स्थिति में हिंदू-देवी-देवताओं का आदरपूर्वक और बौद्ध भिक्षुओं का अपमान व्यंजक उल्लेख कैसे संभव हो सकता था। किंतु लेखक महोदय संभवतः अशोक को याद रख कर प्रथम शती के उन ब्राह्मण-शुंगों की सत्ता को विस्मृत करते प्रतीत होते हैं, जिन्होंने बौद्धों के चरमोत्कर्ष के बाद विकारग्रस्त अवस्था में देश के विभिन्न भागों से उनका उन्मूलन आरंभ कर दिया था और ब्राह्मणधर्म की पुनःस्थापना करना आरंभ कर दिया था। वैयाकरण पतंजलि के पौरोहित्य में एक बार पुनः अश्वमेध का आयोजन भी किया था, उस अवस्था में स्वाभाविक है कि बौद्धों की विकारग्रस्त अवस्था का चित्रण होता, और हिंदू देवी-देवताओं का संमान उस काल की घटना है जब विदिशा में ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस जैसों ने भागवतधर्म की दीक्षा ली थी। इसलिए यदि हाल की रचना का काल प्रथम शती माना जाता है तो यह प्रमाण प्रथम शती का समर्थन करने वालाही है, जैसे कि अन्य तत्कालीन कवियों, नाटककारों ने बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को मद्यपी होने और राजकुमारियों के 'दूती'-कर्म करने का उल्लेख किया है। उस समय बौद्धों का संहार हो रहा था; उच्छेदन ही हो रहा था और यह पहली शती के पूर्व की घटना है। इससे हाल की सप्तशती का पहली शती में निर्मित होना अस्वाभाविक नहीं लगता। लेखक के मतानुसार 'हिंदू धर्म' का उत्कर्ष गुप्त काल में हुआ है। यह ठीक है पर गुप्त काल में बौद्धों के विरुद्ध घृणाप्रसार नहीं हुआ, अनेक बौद्धों का राज-प्रवेश-संमान हुआ है और सहिष्णुता की भावना ही दृष्टिगत होती है। इसके विपरीत शुंगकाल और उसके परवर्ती काल में ही बौद्धों के विरुद्ध पर्याप्त घट-

नाओं के होने का उल्लेख मिलता है। इसलिए प्रथम शती में हाल का होना अधिक सयुक्तिक और सुसंगत प्रतीत होता है और ऐसे ही अनेक प्रमाणों से कालिदास का काल भी उसी समय के आसपास ठहरता है। शुंग-काल ही बौद्ध-विरोधी काल है और वह प्रथम शती ई० पूर्व का है जो कि हाल का भी माना जाता है। लेखक महोदय का अंतः-साक्ष्य भी उसे उत्तरशती में सहज नहीं ला सकता। उत्तरशती के नामोल्लेखों को लेकर भ्रमित होने का कारण नहीं। हां, लेखक महाशय के तर्क अवश्य ही विद्वानों को सप्तशती का अधिक गंभीरता से अनुशीलन करने की ओर प्रेरणा देने के लिये आमंत्रित कर देते हैं।

—सूर्यनारायण व्यास

'अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची'

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के गत अंक, पृष्ठ ५६ पर जो अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची प्रकाशित हुई है, उसमें निम्नलिखित संख्याओं में संशोधन एवं परिवर्द्धन अपेक्षित हैं—यथा—

१ **मुल्लादाउद**—चंदायन १३७० ई० प्रो० अस्करी को प्राप्त मनेर शरीफ की खंडित प्रति के अतिरिक्त भारत कला भवन काशी में इसके ६ सचित्र पत्र सुरक्षित हैं। और कुछ दिन हुए अगर चंद नाहटा जी को भी नागरी अक्षरों में लिखी एक प्रति का हवाला मिला था, और उन्होंने उसी के आधार पर ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५४, अंक १, पृष्ठ ४२ पर यह विवरण प्रकाशित कराया था, "बरस सात सै होइ एक्यासी, तिहि याह कवि सरसेउ भासी। साहि पिरोज ढिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना॥ दल्यौ नयरु वसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा। हि० ७८१ का वि० वर्ष १४११ होता है, यही उसका रचना काल होगा।" इस हिसाब से उसका रचना काल १३७४ ई० होगा।

३ **ईश्वरदास**—भरत विलाप या मिलाप – जिसकी दो प्रतियाँ सभा में हैं। मेरे संग्रह में भी सं० १८८७ की लिखी हुई एक प्रति है। परंतु उसकी भाषा में उतना पुरानापन नहीं प्रतीत होता है। जितना कि सिकंदर शाह (१४४९ - १५१७ ई०) के समय की भाषा (अवधी) में होना चाहिए।

४ **ईश्वरदास**—सत्यवती कथा। इसका रचना काल "**जोति एक पंद्रह के संगा, पांच आत्मा आठौ संगा। भादौं मास पाख उजियारा, तिथि नौमी औ मंगरवारा। नषत अस्विनी मेष क चंदा, पंच जना सो सदा अनंदा।**" के अनुसार संवत् १५५८ ठहरता है। इसे अवधवासी लाला सीताराम जी ने हिंदुस्तानी (भाग ७, अंक १, पृष्ठ ८४ - १००) में प्रकाशित करा दिया था। अतएव पूरी रचना वहाँ देखी जा सकती है।

५ कुतुबन—मृगावती – १५०१ ई० । अभी तक इस ग्रंथ की कोई ऐसी प्रति नहीं मिल सकी है जिसे सर्वांग पूर्ण कहा जा सके। एकडला से प्राप्त प्रति भी खंडित है, उसके केवल २५३ पत्र ही मिले हैं। जिनमें से २५० में ही रचना है। और तीन में केवल चित्र। प्रति पत्र में एक ओर ७ पंक्तियाँ लिखी हैं। और दूसरी ओर चित्र बने हैं, इस प्रकार इसमें १७५० पंक्तियाँ ही प्राप्त हैं जब कि चौखंभा प्रति में ६१२० श्लोक होने के बात कही गई है, और बीकानेर तथा दिल्ली की प्रतियों में ३२०० से कुछ ऊपर पंक्तियों की संख्या पहुँचती है। एकडला प्रति पाठ की दृष्टि से भी अब संदिग्ध है, क्योंकि, चित्रों की सुरक्षा के लिये उनके पीछे की ओर कागज चिपकाया गया है और उसी पर (चित्र पृष्ठ पर लिखी हुई) कविता को उतार लिया गया है। मूल प्रति पर लिखी हुई कुछ पंक्तियों को न पढ़ सकने के कारण चिपकाने वाले अथवा लिपि कर्त्ता ने या तो छोड़ दिया है या चिपकाये गए पृष्ठ पर रेखा खींच दी है। दे० डा० रामकुमार का वक्तव्य, दैनिक भारत, १३ सितंबर ५५ ई०।

७ बुरहान—अरील
८ बक्सन—बारह मासा } परिचय के लिये ज० बि० रि० सो० भाग ३६ पृष्ठ १० देखना चाहिए।

६ साधन—मैनसत, १५७६ ई० इसकी एक प्रति बीकानेर के महाराज के पुस्तकालय में है और सं० १६३३ की एक प्रति अगरचंद नाहटा के संग्रह में है अतएव इसका रचनाकाल १६३३ के आसपास ही होना चाहिए। इनका एक बारहमासा भी बीकानेर में है। जिसकी भाषा भी अवधी ही है।

११ मंझन—मधुमालती। १५४५ ई० इसकी एक प्रति रामपुर में है जो ८ दिसंबर सन् १७१६ ई० की लिखी हुई हैं। और भारत कला भवन में भी एक खंडित प्रति सं० १६४८ की लिखी हुई सुरक्षित है।

१३ बलबीर—दंगव पर्व (१५५२ ई०) इसमें कौरव पांडवों की लड़ाई का वर्णन है [प्रेमाख्यान नहीं] इसका रचनाकाल १५५१ ई० है। दे० खो० रि०, १० पृष्ठ, ८५,

१४ जटमल नाहर—प्रेम विलास, इसका रचनाकाल [संवतु सोलह सौ त्रैयानु" के अनुसार सन् १६३६ ई० होना चाहिए। इसकी भाषा भी शुद्ध अवधी नहीं है।

१७ बनारसीदास—अर्धकथानक, इसका रचनाकाल [सोलह है अट्ठानवै, संवत् अगहन मास। सोमवार तिथि पंचमी, सुकल पक्ष परगास] इस दोहे के अनुसार संवत् १६६८=१६४१ ई० ठहरता है। अतएव यह रचना सत्रहवीं शती है। न कि १६ वीं शती।

१८ और ४२ चतुर्भुजदास—मधुमालती। दोनों संख्यायें एक ही ग्रंथ के लिये प्रयुक्त हुई हैं। यह चतुरभुज दास की मधुमालती अवधी की रचना नहीं है। अतएव उसे इस सूची में नहीं रहना चाहिए। इसकी भाषा का नमूना यह है।

कथा रसिक हिरदे सुख करनी, सुन सुख उपजै नर अघ तरनी।
बर बिरंचि तनया बर पाऊँ, प्रथम शुभ गणपति सिर नाऊँ।
शारद बुधि देहो अन मोही. हिरदे श्याम (?) बिमल मन होही।
चतुर हित चित सुनत रिझाऊँ, सरस मालती मनोहर गाऊँ।

२० शेखनबी—ज्ञानदीप, १६१९ ई०। इसका रचनाकाल "संमत सोलह सै छीहंतरा" के अनुसार ईसवी सन् १६१६ ई० होता है न कि १६१४ ई०। मिर्जापुर में अब उक्त प्रति कोई पता नहीं है। उसकी नागरी अक्षरों में सं० १८८७ की लिखी एक प्रति मेरे संग्रह में है। उसकी पुष्पिका के अनुसार इसका नाम 'ज्ञानदीपक' होना चाहिये।

३२ कासिमशाह—हंस जवाहिर—पहले यह अयोध्या से प्रकाशित हुआ था, बाद में नवल किशोर प्रेस लखनऊ ने छापा है। जिसका पाँचवा संस्करण आजकल प्राप्य है। इसका पहला संस्करण जो अयोध्या से प्रकाशित हुआ था, अधिक प्रामाणिक है। उर्दू में भी इसके दो तीन संस्करण छप चुके हैं।

३४ नूर मुहम्मद—इंद्रावती। मिर्ज़ापुर के मौलवी अबदुल्लाह के यहाँ से प्रति मिली थी, जिस पर से इसका पहला खंड बाबू श्यामसुंदरदास जी ने सन् १९०६ ई० में सभा से प्रकाशित कराया था। और दूसरा खंड तैयार किया हुआ सभा पुस्तकालय में सुरक्षित है। मूल प्रति का मिर्ज़ापुर में अब कोई पता नहीं है।

३५ दूलनदास—शब्दावली। बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है।

४६ शेखनिसार—यूसुफ जुलेखा। हिंदुस्तानी एकेडमी से "हिंदी प्रेमगाथा काव्य संग्रह" नामक संग्रह में प्रकाशित और प्राप्य।

४९ सईद पहार—रसरत्नाकर (ग्रंथ का नाम रसरतनागर है) ग्रंथ वैद्यक का है। भाषा मिश्रित अवधी है। अधिक विवरण के लिए बीकानेर में सुरक्षित प्रति देखनी चाहिए। तथा खोज० रि० सन् १९०९ से ११ पृ० ३७३

५० युगुलानन्य शरण होना चाहिए। अयोध्या में इनकी गद्दी तथा ग्रंथादि भी वर्तमान हैं।

६२ ख्वाजा अहमद—नूरजहाँ। रचनाकाल सन् १९०५ ई०। इसकी एक प्रति बाबू गोपालचंद्र सिंह लखनऊ के पास है।

६३ मुहम्मद नसीर—प्रेम दरपन, उर्दू में प्रकाशित और कानपुर से प्राप्य।

—उदयशंकर शास्त्री

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष : ६० संवत् : २०१२ अंक : २

●

चयन

पताकास्थानक की समस्या

[डा० बी० एम० कुलकर्णी]

[जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बांबे, सितंबर, १९५५, खंड चौबीस (न्यू सीरीज), भाग २ में प्रकाशित 'द प्रॉब्लेम आफ पताकास्थानक' शीर्षक निबंध का संक्षेप ।]

संस्कृत के नाट्य शास्त्र में पताकास्थानक को महत्वपूर्ण नाट्यकौशल माना गया है। नाट्यशास्त्र ने उसके चार भेद किए हैं। परंतु पाठक की सहज बोधगम्यता के लिए इसमें कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं दिए गए। नाट्यविज्ञान के उत्तर आचार्यों ने भी या तो नाट्यशास्त्र की बात दुहरा दी है या अपनी रुचि की परिभाषाएँ तथा उदाहरण दिए हैं। कभी कभी ये आचार्य एक ही उदाहरण को विभिन्न प्रकारों की पुष्टि के लिए उपस्थित करते हैं। इस निबंध में पताकास्थानक के विभिन्न रूपों पर विशद विवेचन करने का आयोजन है।

नाट्यशास्त्र ने इसकी साधारण व्याख्या यों की है —

जब आयोजित अथवा अपेक्षित वस्तु अथवा कल्पना के स्थान पर उसी प्रकार की दूसरी वस्तु आकस्मिक ढंग से उपस्थित हो जाय तो उसे पताकास्थानक कहते हैं।

नाटककार के दृष्टिकोण से 'प्रस्तुत' उसके विपरीत होता है। इसका समानांतर प्रमाण अलंकारशास्त्र से दिया जा सकता है। अन्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) में 'अप्रस्तुत' केवल 'प्रस्तुत' का संकेत करता है जो कवि के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है और वही उसकी कल्पना को अलंकरण प्रदान करता है। इस प्रकार यही उसका 'चिंतित अर्थ' तथा 'अप्रस्तुत' उसका 'अन्य अर्थ' होता है। दशरूपक की व्याख्या से प्रतीत होता है कि धनंजय ने पताकास्थानक को नाट्यकार की दृष्टि से ही देखा। अभिनव तथा अन्य

आचार्य 'चिंतित अर्थ' को ही तत्कालिक प्रस्तुत मानते हैं। यह बताना कठिन है कि भरत के मन में उसका वास्तविक रूप क्या था। अधिक सुविधाजनक यही है कि दर्शक तथा पात्र के दृष्टिकोण से उसे समझा जाय।

साधारण परिभाषा देकर भरत ने इसके चार भेद बताए हैं —

जब (नायक का) लक्ष्य अप्रत्याशित ढंग से पूर्ण हो जाता है और प्रत्याशित (लक्ष्य) से ऊँचा उठकर रहता है, तब उसे प्रथम पताकास्थानक कहते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार (आलंकारिक चमत्कार के लिए प्रयुक्त अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्य दूसरा पताकास्थानक होता है जिसका प्रयोग द्व्यर्थक होता है।

नाटकलक्षणरत्नकोश तथा साहित्यदर्पण इसके उदाहरण में वेणी० १–७ का उद्धरण देते हैं जिसकी स्पष्ट ध्वनि कौरवों का कल्याण तथा संकेत कौरवदल के विनाश का है। यह द्विविध अर्थ रक्त, विग्रह आदि द्व्यर्थक शब्दों के कारण है। ये उदाहरण बहुत स्पष्ट नहीं माने जा सकते क्योंकि इनसे तीसरे तथा चौथे प्रकारों में कोई भेद स्पष्ट नहीं होता। रसार्णवसुधाकर ने उत्तर रामचरित का प्रसिद्ध वाक्य (··· **विरहः।—उपस्थितः**) इस भेद के उदाहरण में रखा है जो स्पष्टतः अशुद्ध है। राघवभट्ट के अनुसार नेपथ्य-वाक्य "**चक्कवाकबहुए, आमंतेहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी।**" द्वितीय पताकास्थानक का लक्षण है। वह वाक्य स्पष्टतः अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्ति) है—यह चक्रवाकी को प्रियतम से विदा लेने को प्रेरित करता है; और राजा तथा शकुंतला के संबंध में प्रेक्षकों पर इसका प्रभाव तत्काल होता है।

तीसरे पताकास्थानक की व्याख्या इस प्रकार है—जब कोई पात्र किसी घटना के घटित होने न होने के विषय में संदिग्ध होता है और किसी अन्य पात्र के अन्य संदर्भ में दिए गए उत्तर से उसका भ्रम दूर हो जाता है तो उसे तीसरा पताकास्थानक कहते हैं।

पहले कहा गया है कि दूसरे तथा चौथे पताका स्थानकों के उदाहरणों में सूक्ष्म भेद करना कठिन है। दोनों उदाहरण दोनों के लिए दिए गए हैं। रूढ़िवादी टीकाकार इसके उत्तर में कहेंगे कि दूसरा 'प्रधानार्थ विशेष' तथा चौथा 'अप्रधानार्थ' का द्योतक है। परंतु विश्वनाथ की स्पष्टोक्ति के आगे यह तर्क नहीं ठहरता।

आगे चलकर धनंजय के अतिरिक्त अन्य आचार्य भी नाट्यशास्त्र के मतैक्य में पताकास्थानक के चार भेद ही करते हैं। दशरूपक के अनुसार प्रस्तुत (कथावस्तु अथवा विषय-सामग्री) से संबंधित किसी आगामी घटना का संकेत पताकास्थानक होता है। अन्यत्र

अवलोक ने अन्योक्ति (= अप्रस्तुत-प्रशंसा) तथा समासोक्ति के द्वारा पताकास्थानक के भेद माने हैं।

धनंजय के तुल्यसंविधान तथा तुल्यविशेषण के आधार पर किए गए भेद ठीक तो हैं परंतु व्यवहार में कभी-कभी यह संयुक्त रूप से भी मिलते हैं। भावप्रकाशन ने इसका क्षेत्र और भी विस्तृत कर दिया है जब वह अपनी व्याख्या में भविष्य-संकेत के साथ भूत का संकेत भी मान लेता है।

पताकास्थानक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि (१) यह दर्शकों के आनंद के लिए प्रयुक्त कौशल है, (२) प्रायः इसके द्वारा निकटस्थ अथवा दूरस्थ भावी घटना का संकेत मिलता है, (३) स्थूल रूप में इसके दो भेद होते हैं—द्व्यर्थक परिस्थिति द्वारा तथा द्व्यर्थक वाक्य द्वारा, (४) नाट्यशास्त्र ने पताकास्थानक के चार भेद इस प्रकार किए हैं—प्रथम में द्विपार्श्व परिस्थिति से नायक की लक्ष्य सिद्धि, द्वितीय में प्रस्तुत से संबंधित अतिशयोक्ति द्वारा भविष्य का संकेत, तृतीय में पात्र के द्व्यर्थक कथन से प्रस्तुत का ही नहीं भावी का भी संकेत मिलता है; इसमें तथा गण्ड (अधम वीथ्यंग) में बहुत समानता होती है। परंतु गण्ड, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, व्याघात की सूचना करता है और पताकास्थानक शुभ की सूचना करने के साथ नायक की लक्ष्य सिद्धि में सहायक होता है।

इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि नाट्य कौशल के वह तत्त्व जिन्हें पाश्चात्य समीक्षक नाटकीय व्याजोक्ति (ड्रामैटिक आइरनी) कहते हैं, संस्कृत के नाटककारों को विदित थे तथा प्राचीन नाट्य-आचार्य उन पर ध्यान देते थे। अवश्य ही इसका यह भाव नहीं कि उन्होंने उनका प्रयोग भी उतनी मात्रा में किया है जितना कि अँगरेजी के नाटककारों ने। 'आगामी घटनाओं का पूर्वाभास' होने का नियम अनुभव का तथ्य है। इस नियम के अनुसार संस्कृत नाटक की गंभीर घटनाएँ प्रायः अपनी पूर्वसूचना दे देती हैं। गण्ड तथा पताकास्थानक के भेद आगम-पूर्वाभास (Prophetic anticipation) से मेल खाते हैं। कभी-कभी प्रच्छन्न संकेत या अस्पष्ट छाया के रूप में इनके आभास मिलते हैं। पताकास्थानक और (गण्ड भी) कलात्मकता के साथ सफल हों ; कभी भी उनका प्रयोग अस्वाभाविक रीति से नहीं होना चाहिए। संस्कृत के नाटककारों ने पताकास्थानकों की सृष्टि कौशल के साथ की है।

चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री वसुंधरा — एक टिप्पणी

[डा० उमाकांत पी० शाह]

[जर्नल आफ द ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड पाँच, संख्या १ (सितंबर १६५५) में प्रकाशित 'ए नोट ऑन वसुन्धरा-द डॉटर ऑफ चंद्रगुप्त सेकेंड' शीर्षक निबंध का संक्षेप ।]

लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु हिंदू-धर्मशास्त्र का निबंध-ग्रंथ है। लेखक ने अपने संबंध में महाराजाधिराज गोविंदचंन्द्र का महा-संधि-विग्रहिक होना लिखा है। गोविंद-चन्द्र के अभिलेखों की अवधि प्रायः आधी शताब्दी, ११०४ से ११५४ ई० तक, है।

राजघाट से प्राप्त और संभवतः प्राचीन काशी में लिखा गया एक आंशिक लेख प्राचीन परंपरा के संबंध में विश्वसनीय कहा जा सकता है।

कृत्यकल्पतरु के नवें खंड, व्रतकाण्ड में निम्नलिखित श्लोक (व्रतप्रशंसा) मिलता है—

सन्ति यद्यपि भूयांसो लोके धर्मा युगे युगे ॥
तथापि व्रतधर्मस्य नार्हन्ति षोडशीम् ॥
व्रतेन मुक्तिमापन्ना हरिणाक्षी **वसुन्धरा** ॥
विक्रमस्य सुता साध्वी **दशार्णनिवासिनी** ॥

उपर्युक्त श्लोक से विदित होता है कि कि विक्रम की हरिणाक्षी, साधुस्वभाव की (साध्वी) तथा दशार्ण-निवासिनी पुत्री ने इस व्रत के द्वारा मुक्ति प्राप्त की।

यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त व्रत करके मुक्तिलाभ करने के उदाहरण में विशेष रूप से विक्रम की पुत्री का उल्लेख किया गया है। उसके व्रत का कारण क्या था ? उसे साध्वी क्यों कहा गया ? क्या वह विधवा थी जो आगे कठोर व्रत करके साध्वी नारी कहलाई तथा जिसने ऐसे आचरणों से मुक्तिलाभ किया ? इन तथ्यों के निराकरण के साधन उपलब्ध नहीं हैं यद्यपि ऐसी कल्पनाएं की जा सकती हैं। लक्ष्मीधर की इस उक्ति पर विश्वास किया जा सकता है कि विक्रम की पुत्री का नाम वसुन्धरा था और वह साध्वी की भाँति रहती थी। यहाँ यह संकेत किया जा सकता है यह विक्रम चंद्रगुप्त द्वितीय के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता है जिसका संबंध दशार्ण तथा मालवा से प्रसिद्ध है।

वाकाटकवंशीय प्रवरसेन द्वितीय की माता प्रभावती गुप्ता बहुत युवावस्था में ही विधवा हो गई थी और कुछ काल के लिए वह सम्राट की अभिभावक रही। उसने अपने

को गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय (देवगुप्त नाम से भी प्रसिद्ध) की पुत्री कहा है। संभव है युवावस्था में ही विधवा हो जाने के कारण उसने अपना शेष जीवन व्रताचरणों में बिताया और इस दिशा में आदर्श मानी गई हो। इसलिए हम कह सकते हैं कि लक्ष्मीधर के द्वारा उल्लिखित वसुन्धरा संभवतः वाकाटक सम्राट रुद्रसेन द्वितीय की साम्राज्ञी, तथा चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता का ही वास्तविक नाम था।

निर्देश

हिंदी

हिंदी अनुशीलन, प्रयाग, वर्ष ७, अंक ४, संवत् २०११

'पृथ्वीराज रासो' के तीन पाठों का आकार-संबंध—डॉ० माताप्रसाद गुप्त। पृथ्वीराज रासो के चार पाठ बताए जाते हैं—बृहत्, मध्यम, लघु और लघुतर। प्रस्तुत निबंध में प्रथम तीन पाठों को लेकर विचार किया गया है।

चिन्तामणि कृत 'शृंगार मंजरी'—डॉ० भगीरथ मिश्र। जैसा शीर्षक से स्पष्ट है प्रस्तुत निबंध में कवि तथा उसकी कृति के रचना-काल आदि पर विचार है।

हिंदी के आदि नाटक—डॉ० दशरथ ओझा। नाटक का तात्पर्य प्रस्तुत निबंध में धनंजय के दस प्रकार के रूपकों से नहीं वरन् इससे भी व्यापक अर्थ में लिया गया है। लेखक ने काव्यानुशासन के रचयिता हेमचंद्र के स्वतंत्र वर्गीकरण—प्रेक्ष्य तथा गेय—को मान्यता देते हुए रास की अभिनेयता तथा वैष्णव एवं जैन मंदिरों में अभिनीत होनेवाले रास के स्वरूप, अभिनयशालाओं आदि पर प्रकाश डाला है।

दशधा-भक्ति—डॉ० जगदीश गुप्त। भागवत के सप्तम स्कंध में 'नव लक्षणा' भक्ति का निरूपण किया गया है। 'श्री हरिभक्ति रसामृत सिंधु' में रूप गोस्वामी ने भक्ति के 'वैधी' तथा 'रागानुगा' दो भेद करते हुए 'रागानुगा' को प्रधान माना है। प्रस्तुत निबंध में 'प्रेम भक्ति', 'सुधा भक्ति' आदि कही जाने वाली इस दसवें प्रकार की भक्ति का विवेचन है।

धौलपुर में रामायणी मूर्तिकला की झाँकी—गंगाप्रसाद कमठान। [शोधपत्रिका उदयपुर, भाग ६, अंक २-३, दिसंबर- मार्च, ५४-५५।] इससे सूचना मिलती है कि धौलपुर में बहुतेरी भारतीय शैली पर निर्मित मूर्तियों के भग्नावशेष मिलते हैं। पचकुंडा (वर्तमान पचगाँव) के समीप एक शिलालेख में राम की लोककथा की ध्वनि का आभास होता है। पचगाँव के उत्तरी-पूर्वी भाग में एक रामायणी

मंदिर के खंडहरों में पड़े एक शिलाखंड पर बाली-सुग्रीव गदा-युद्ध करते हुए अंकित हैं। धौलपुर से बाड़ी जाने वाले रेल-मार्ग पर स्थितमौहारी नामक स्थान पर बाल्मीकि-आश्रम गुफा के रूप में है। इस गुफा में २-३ फुट धरती खोदने पर रामायणी मूर्तियाँ निकलती हैं। इनमें की अनेक मूर्तियाँ कलकत्ता, दिल्ली तथा भारत-कला-भवन, बनारस में रखी हैं। (भारत-कला-भवन में शिलालेख भी आए हैं —संपादक)।

संतकवियों के प्रेमाख्यान—श्री परशुराम चतुर्वेदी। [साहित्य पटना, वर्ष ६, अंक ७, संवत् २०१२, १९५५] प्रस्तुत निबंध में दुखहरन की 'पुहुपावती' तथा धरणीदास की 'प्रेम प्रगास' नामक कृतियों पर विवेचन है।

अंगरेजी

मेथड्स ऑफ वेदिक इंटरप्रिटेशन—श्री डी० टी० ताताचार्य [जर्नल आफ श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, तिरुपती, खंड पंद्रह, भाग १, १९५४]। मैकडानल ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि कोई भी ऐसी प्राचीन टीका नहीं है जो ऋग्वेद को ठीक तथा संतोषप्रद ढंग से समझने में सहायक हो। ब्राह्मण, निरुक्त तथा भाष्य में उसने सायण के अनेक दोष इंगित किए हैं। प्रस्तुत निबंध में मैकडानल की निरुक्त संबंधी आलोचनाओं पर विचार किया गया है।

लैंगवेज—ऐन अप्रेजल—श्री कर्णाटकी [जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बाम्बे, खंड चौबीस (न्यू सीरीज), भाग २, सेप्टेंबर १९५५]। भाषा के उद्भव, विकास तथा मूल्यांकन पर गवेषणात्मक निबंध।

द पीपुल ऑफ रामायण एज—डा० एम० एन्० व्यास [जर्नल आफ द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड ५ संख्या १, सितंबर १९५५]। रामायणकालीन मानव-संस्कृति का निरूपण।

द आर्यन वे आफ लाइफ इन द रामायण—डा० एस० एन० व्यास [वही, खंड ५ संख्या २, १९५५] रामायण में आर्यजीवन की झलक।

वेदिक 'इष्'-'टु प्रॉस्पर'—टी० बरो [बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज् युनिवर्सिटी आफ लंडन, खंड सत्रह, भाग २, १९५५] इस निबंध में लेखक ने यह स्थापना की है कि वैदिक शब्द 'इष्' की व्याख्या समृद्धि, श्री आदि जैसे संपन्नता-सूचक अर्थों की छाया में ही होनी चाहिए।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष : ६० संवत् : २०१२ अंक : २

समीक्षा

काव्य मीमांसा (हिंदी-अनुवाद युक्त)। मूल लेखक—राजशेखर, अनुवादक श्री केदारनाथ शर्मा, सारस्वत, प्रकाशक—बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना, पृ० सं०—४६+११८, मूल्य ६॥) ।

संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों अथवा शास्त्रज्ञों में बहुत दिनों से 'काव्य-मीमांसा' का प्रचलन लुप्तप्राय था। बीसवीं शती के प्रथम चरण में इस ग्रंथ का समुचित प्रकाशन, विद्वत्तापूर्ण ढंग से गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, बड़ौदा द्वारा प्रस्तुत किया गया। तब से इस ग्रंथ का पुनः पठन-पाठन प्रचलित हुआ।

यह ग्रंथ, अष्टादश अधिकरणों में विभाजित राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' का प्रथम अधिकरण मात्र है। इस अंश का वास्तविक नाम है—कवि-रहस्य। काव्य-विषयक तत्वों की मीमांसा, इस अंश का मुख्य निरूप्य विषय नहीं है। रस, अलंकार, गुण आदि प्रचलित शास्त्रीय विषयों का निरूपण आगे के विभिन्न अधिकरणों में करने की योजना थी। इस योजना की अधिकरण-सूची से ग्रंथ की पूर्ण परिधि का पता चलता है। पर दुर्भाग्य से कदाचित् आगे के अधिकरण निर्मित न किए जा सके, या यदि निर्मित हुए भी तो विलुप्त हो गए हैं। फिर भी प्रस्तुत अधिकरण, कवि-रहस्य, का भी महत्व कम नहीं है। बहुत से ऐसे विषयों की चर्चा तथा विवरण इस ग्रंथ से मिलते हैं जो तत्कालीन साहित्य-शास्त्रीय दृष्टि की शृंखला में पर्याप्त महत्व रखते हैं। कवियों के भेद और प्रकार, भावक और कारक आदि वर्गीकरण—काव्य-मीमांसा की नई देन है। इन्हीं कारणों से प्रस्तुत ग्रंथ, संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है।

अनुवाद अधिकारी व्यक्ति के द्वारा सुस्पष्ट हिंदी में संपन्न हुआ है। आरंभ में ४६ पृष्ठों की भूमिका के अनंतर मुख्य ग्रंथ है, जिसमें संस्कृत मूल, हिंदी-अनुवाद (और यत्र

तत्र टिप्पणियाँ भी) हैं। तदनंतर चार परिशिष्टों द्वारा प्रस्तुत रचना में निर्दिष्ट आचार्यों, कवियों, ऐतिहासिक व्यक्तियों, भौगोलिक स्थानों, नदियों, पर्वतों, ग्रंथों आदि का परिचय है और अंत में अनुक्रमणिका है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का यह प्रकाशन अत्यंत उपयोगी और समयानुकूल है। फिर भी समस्त ग्रंथ में, विशेषतः भूमिका में, उस आधुनिक गवेषणात्मक दृष्टि का अभाव है, जिसका आधार लेकर ग्रंथों का संपादन और समीक्षण आधुनिक वैज्ञानिक सरणि है। फिर भी अनुवादक ने यथा-संभव ऐतिहासिक सामग्री का संकलन और तद्विषयक परिचय देने का प्रयास किया है। ग्रंथ संग्रहणीय, समयोपयोगी एवं स्वागतार्ह है।

— विश्वनाथ शास्त्री

संयुत्त-निकाय—अनुवादक, श्री भिक्षु जगदीश काश्यप तथा भिक्षु धर्मरक्षित, प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस। पृ० सं० (प्रथम भाग) २+२+२+१६+१३२+४४८+२०, मूल्य, सात रुपए।

बौद्धों की दृष्टि में त्रिपिटक की वही प्रतिष्ठा है जो हिंदुओं के लिए वैदिक संहिताओं की। त्रिपिटक के तीन पिटकों में 'सुत्तः पिटक' का सांप्रदायिक महत्व है। इसके भी तीन विभाग हैं--दीघ-निकाय, मज्झिम निकाय और संयुत्त-निकाय। इस निकाय में छोटे-बड़े सभी प्रकार के सूत्रों का संग्रह है। इसमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक विषय भी विवृत किए गए हैं, भगवान् बुद्ध के द्वारा 'प्रतीत्य-समुत्पाद' सिद्धांत की व्याख्या की गई है एवं स्कंधवाद' तथा 'आयतनवाद' के निरूपण द्वारा बुद्ध-प्रतिपादित 'अनात्मवाद' की स्थापना हुई है। इसके अतिरिक्त भी बौद्ध धर्म से संबद्ध महत्व के विषयों का इसमें संकलन है।

बुद्धकालीन भारत के मानचित्र के साथ भौगोलिक परिचय ग्रंथारंभ के पूर्व दे देने से ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है।

अनुवाद बौद्ध धर्म और पालि भाषा के मर्मज्ञ एवं प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ है—अतः उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। महाबोधि सभा (सारनाथ) द्वारा हिंदी के माध्यम से बौद्धों के पालि-साहित्य का जो प्रकाशन-कार्य, अनवरत किया जा रहा है, वह अत्यंत समयोपयोगी है। राष्ट्रभाषा के माध्यम से ऐसे प्रकाशनों द्वारा प्राचीन भारत के विश्ववंद्य महापुरुष भगवान् तथागत के उपदेशों में निहित मानवता के आदर्शों से लोक-परिचय होगा तथा सर्वजनसुख, सर्वलोकहित, सर्व

भूतानुकंपा के सिद्धांत का भारत ही नहीं, समस्त भूमंडल में प्रचार और प्रसार होगा। हमारा विश्वास है, महाबोधि सभा का यह महानुष्ठान द्रुतगति से अग्रसर होता चलेगा।

— करुणापति त्रिपाठी

हिंदी निबंधकार—ले० श्री जयनाथ 'नलिन'; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली; मू० ६)।

आलोच्य पुस्तक में निबंध का क्रियाकल्प-संबंधी वैशिष्ट्य उद्घाटित करने के बाद अंगरेजी निबंध का संक्षिप्त विवरण और हिंदी के निबंधकारों का विस्तृत परिचय देने का प्रयास किया गया है। अब तक हिंदी-निबंध की तीन-चार छोटी-मोटी पुस्तकें निकल चुकी हैं, ऐसी स्थिति में इस नवीन पुस्तक से कुछ नवीनता और अधिक सार्थक विश्लेषण-परीक्षण की आशा स्वाभाविक थी। पर खेद है कि नवीनता, भाषा की उछलकूद, आकार की स्थूलता और मूल्य की अधिकता में ही दिखाई पड़ी।

यों नयापन लाने की कोशिश यत्र-तत्र की गई है पर वह वागाडंबर के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो पाया। लेखक ने निबंधों के दो वर्ग बनाए हैं—परात्मक (आब्जेक्टिव) और निजात्मक (सब्जेक्टिव)। परात्मक के अंतर्गत वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबंध माने गए हैं तथा निजात्मक के अंतर्गत विचारात्मक, भावात्मक और आत्मपरक निबंधों को रखा गया है। पर यह वर्गीकरण मामूली गड़बड़झाले का नहीं है। क्या शुद्ध वस्तुनिष्ठ वर्णन या विवरण निबंध माना जायगा? आखिर साधारण लेख और निबंध में मूलभूत अंतर तो यही है न कि निबंध में लेखक का आत्मीय राग न्यूनाधिक मात्रा में स्पष्ट रहता है जब कि साधारण लेख में नहीं के बराबर। तो फिर वर्णनात्मक और विवरणात्मक को 'परात्मक' के ही कब्जे में क्यों दे दिया जाय। वस्तुतः वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक (या विवेचनात्मक) और भावात्मक—ये कथन की शैलियाँ हैं और इनका उपयोग आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ—किसी भी प्रकार के निबंध की रचना में हो सकता है। ऐसी स्थिति में लेखक का उक्त वर्गीकरण निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

अब जरा निबंधों के विभिन्न वर्गों का परिचय देखिए—'वर्णनात्मक निबंध में अधिकतर स्थिर—क्रियाहीन—पदार्थों का चित्र रहेगा, विवरणात्मक में क्रियाशीलता का। कथात्मकता इसकी सर्वोपरि विशेषता है। ऐतिहासिकता भी इसी को कहते हैं।' (पृ० २०) पर क्या वर्णन स्थिर और गत्वर दोनों ही प्रकार के दृश्यों का नहीं हो सकता? स्वयं लेखक ने भट्ट जी के 'मेला-ठेला' को वर्णनात्मक निबंध माना है जिसमें नाटकीय कौशल

से गलत दृश्य सामने लाया गया है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'प्रभात' (पृ० १६) (जो पृ० १०७ तक पहुँचते पहुँचते संबृद्ध होकर 'प्रभात-सुषमा' बन गया) को वर्णनात्मक माना गया है जब कि वह एक संस्कृत काव्य के प्रभातवर्णन के आधार पर लिखा गया यह निबंध वस्तुतः भावात्मक है। प्रसादजी की कहानियों—स्वर्ग के खँडहर और आकाश-दीप—के विषय में कहा है, 'इस प्रकार के भावात्मक गद्य-खंडों को हम निबंध की कोटि में ही रखते हैं।' (पृ० २४)। इस उक्ति पर क्या कहा जाय। अगले ही पृष्ठ पर (पृ० २५) अंकित है—'हास्य-व्यंग की गद्यात्मक रचनाएँ भी भावात्मक निबंध' के अंतर्गत आती हैं। हास्य तो, माना, भाव (या रस) है पर व्यंग आलोचनात्मक वृत्ति पर आघृत होने से बुद्धिविशिष्ट ही होगा।

निबंध की शैली कई प्रकार की हो सकती है, नाटकीय और संवादात्मक भी हो सकती है, यह सर्वमान्य है। लेकिन लेखक के शब्दों में " 'नई सभ्यता की बानगी' में तो संवादों की वह भरमार कि निबंधात्मकता दब ही गई।" (पृ० ७०)। वैसे इस वाक्य की व्याकरणिक अशुद्धि पर कुछ कहना बेकार है क्योंकि ऐसे स्खलित अपूर्ण वाक्यों की तो आलोच्य पुस्तक में भरमार है।

ओज, माधुर्य और प्रसाद—ये भाषाशैली के गुण हैं। विचारात्मक, भावात्मक आदि शैली के विविध रूप हैं। व्यास और समास मुख्यतः पद-योजना तथा वक्तव्य वस्तु के प्रकाशन के विस्तार और संकोच से संबद्ध हैं। इन भेदों या वर्गों के आधार को विस्मृत कर देने के कारण सारा गुड़ गोबर हो गया है। केवल एक उदाहरण दिया जाता है—'(शुक्ल जी लिखित) मित्रता, प्राचीन भारतीयों का पहरावा, भारतेंदु हरिश्चंद्र की शैली प्रसादात्मक है। इनके अतिरिक्त सभी निबंध विचारात्मक हैं, श्रेष्ठ विचार - प्रधान निबंध इसी विवेचनात्मक शैली में रचे जा सकते हैं, व्यास या प्रसाद में नहीं।' (पृ० ११६)। इस कथन से यह पता चलता है कि प्रसादात्मकता और विचारात्मकता एक ही कोटि या वर्ग के हैं। वाक्य के अंतिम अंश से लगता है कि 'व्यास' और 'प्रसाद' भी एक ही वर्ग के हैं। इसे छोड़ भी दें तो प्रश्न रह जाता है कि श्रेष्ठ विचार-प्रधान-निबंध की शैली प्रसादगुण संपन्न क्यों नहीं हो सकती? यों लेखक ने तो कुछ रचनाओं को प्रसाद-गुण-विशिष्ट मात्र होने के कारण निबंध के क्षेत्र से ही बहिष्कृत कर दिया है—"...... शैली इतनी प्रसादपूर्ण है कि निबंध न होकर ये बात-कथन मात्र रह गए।' (पृ० ७०)। मानों प्रसादगुण अर्थात् स्पष्टता, सरलता, सुबोधता शैली का भारी दोष है!

अब बानगी के तौर पर कुछ तथ्य-संबंधी दोषों का भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। लिखा है, 'प्रकृतिसंबंधी लेख लिखने में ठाकुर जगमोहन सिंह को भुलाया नहीं जा सकता।' (पृ० ६९)। पर जगमोहन सिंह ने लेख या निबंध लिखे ही नहीं। हाँ उनके 'श्यामास्वप्न' उपन्यास से प्रकृतिवर्णन वाले कुछ अंश कतिपय पाठ्य-पुस्तकों में अवश्य संकलित हैं। यही हाल 'ब्रह्मकांति' का भी है। पूर्णसिंह ने इस नाम का कोई निबंध नहीं लिखा है। यह उनके 'पवित्रता' शीर्षक निबंध का आरंभिक अंश मात्र है। पं० प्रतापनारायण के जिस 'शिवमूर्ति' नामक लेख को लेखक ने उनका उत्कृष्ट विचारात्मक निबंध माना है वह वास्तव में 'शैव सर्वस्व' नामक पुस्तक का एक अंश है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध-संग्रह 'कल्पलता' को 'अशोक के फूल' के पहले का प्रकाशन मानकर विलक्षण निष्कर्ष निकाला गया है। वास्तव में 'अशोक के फूल' का प्रकाशन पहले हुआ है। यों लेखक ने कम से कम पुस्तकों या रचनाओं का निर्देश करके इस तरह के खतरों से बचने की सतर्कता भी बरती है; जैसे, गुलेरी जी के विवेचन के लिए केवल 'कछुआधर्म' को ले लिया गया है और अंत में उनके एक अन्य लेख से भी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं, बस गुलेरी जी खत्म।

पुस्तक में कई नए लेखक भी आए हैं। उन्हें देखते हुए अन्य वैसे या उनसे अच्छे लेखकों का छूट जाना खटकता है। होना तो यह चाहिए कि मूल्यांकन के लिए चुने हुए लेखकों को ही लिया जाय और नाम गिनाने की प्रणाली छोड़ दी जाय। ऐसा होने से बहुत सा कूड़ा-कचरा अपने आप छँट जायगा और निबंधालोचन का एक स्तर भी बनेगा।

आलोच्य पुस्तक की भाषा और शैली अत्यंत चिंतनीय है। 'प्थक' (पृ० २६ आदि), 'गांभीर्यता' (पृ० १४४) 'गुदगुदी करके' (पृ० ८८) जैसे महादोषों को छोड़ भी दिया जाय तो सैकड़ों वाक्य ऐसे मिलेंगे जिनका या तो कुछ अर्थ ही नहीं होता या महाभयंकर अनर्थ होता है। कुछ अनायास चुन लिए गए उदाहरण लीजिए—

* 'उनकी कला का आदर्श जन-जन का मनोरंजन नहीं, सामान्य समाज में प्रियता प्राप्त करना नहीं, शृंगार-सदन में सजते रहना, अपने सौंदर्य पर स्वयं मुग्ध होना और आराम से पड़े एकआध भाग-विलासी के यहाँ पहुँच मन-बहलाव कर आना। ऐसी भाषा जन-संपर्क में न आएगी, न उसमें प्राणी होंगे, न जीवन-शक्ति। वह तो अपने विलास-भवन में ही मर जाएगी।' (पृ० ८२)

* 'विचारात्मक निबंध ही द्विवेदीजी ने अधिक लिखे। ऐसा नहीं; इन्होंने अन्य प्रकार के निबंध लिखे ही नहीं।' (पृ० १०७)
* 'ब्रह्मकांति के अतिरिक्त (पूर्णसिंह के) शेष ··· निबंध विषयानुसार विचारात्मक हैं। इनमें न तो प्रसाद और न विवेचन-शैली अपनाई गई। विचारात्मक होने पर भी ये निबंध भावात्मक बन गए हैं। शैली, रसानुभूति, भावावेग, आत्मीय मधुर अनुरोध, के कारण इनमें भावात्मक निबंध का रस मिलता है।' (पृ० १२७)—[इसके बाद वाग्जाल और सघन हो गया है]
* 'भाषा पर पूर्णसिंह का मैत्रीपूर्ण असाधारण अधिकार है।' (पृ० १३०)—[फिर आगे कोरा वागाडंबर है ।]

इन सभी अंशों में भाँति-भाँति के चमत्कार और नाना प्रकार के रस हैं। स्थल-संकोच से उन्हें स्पष्ट नहीं किया जा सकता पर सुधी पाठक स्वयं समझ लेंगे। इस पुस्तक की भाषा के संबंध में, एक अन्य लेखक के संबंध में प्रस्तुत पुस्तक में प्रकट किए विचारों को उद्धृत कर देना असंगत न होगा—'भाषा में स्खलन··· चंचलता और उछलकूद (इसकी) विशेषता है। भाषा-संबंधी दोष जहाँ-तहाँ ··· बिखरे पड़े हैं ··· वाक्य का विलक्षण और दुर्बोध रूप भी मिलता है।'

आलोचना के क्षेत्र में मिथ्याडंबर से भरे, अशुद्ध और निरर्थक वाग्जाल फैला कर पैसा कमाने वाले लेखकों की भीड़ अब अनियंत्रित होती जा रही है। इससे साहित्य और उसके विद्यार्थियों का असाधारण अपकार हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तक एकदम ऐसी नहीं है। इसमें विद्वान लेखक ने कुछ नई बातें भी कहने का प्रयत्न किया है। हम आशा करते हैं कि अगले संस्करण में ऊपर निर्दिष्ट और उस तरह के अन्य दोषों का परिहार कर दिया जायगा और सार्थक बातों को अधिक व्यवस्थित ढंग से सामने रखा जायगा, व्यर्थ की बातें निकाल दी जायँगी और कागज का जरा अधिक सतर्कता से सदुपयोग किया जायगा—तब इस पुस्तक के कम से कम सौ पृष्ठ कम हो जायँगे। ऐसा होने पर लेखक, प्रकाशक, विद्यार्थी और साहित्य सबका हित-साधन होगा। —समीक्षक

विश्वधर्म-दर्शन—ले० श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा एम०ए०, एल०-एल० बी०, एम० एल० सी०। प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ संख्या ६+६+४८४ (साइज—डबल क्राउन अठपेजी)। मूल्य सजिल्द १३॥) सामान्य १२॥)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने सर्वप्रथम जिन आठ ग्रंथों को प्रकाशित किया है, उनमें एक ग्रंथ यह भी है। यह विशालकाय ग्रंथ श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा के गंभीर अध्ययन तथा अध्यवसाय की उपज है। छपरा निवासी श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, एडवोकेट, एक पुराने हिंदी साहित्य-सेवी हैं। ये बिहार की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य भी हैं। वकालत के अत्यधिक व्यस्तजीवन को बिताते हुए भी वर्मा जी ने इस ग्रंथ के प्रणयन में जो मनन तथा ज्ञानमन्थन किया है, वह स्तुत्य है। जैसा कि ग्रंथ के 'दो शब्द' से ज्ञात होता है, वर्मा जी ने इस विषय पर एक अत्यधिक विशाल ग्रंथ लिखने की योजना बना रखी थी। उस योजना को देखते हुए प्रस्तुत ५०० पृष्ठों का ग्रंथ भी उसका एक क्षुद्र अंश सिद्ध होता है। श्री वर्मा जी इस विषय पर पाँच खंडो का प्रणयन करना चाहते थे, और उनका विचार था कि प्रत्येक खंड लगभग हजार पृष्ठों के अलग अलग ग्रंथ हो। इस प्रकार वह संपूर्ण ग्रंथ लगभग ५००० पृष्ठों तक विस्तीर्ण होता। प्रस्तुत ग्रंथ में वर्मा जी ने अपने इसी विशाल अध्ययन तथा मनन की एक 'माइक्रोस्कोपिक फिल्म' देने की चेष्टा की है। यद्यपि वर्मा जी ने इस ग्रंथ में अपनी मधुमक्षिका वृत्ति घोषित की है, तथा इसमें वे अपनी मौलिकता और विद्वत्ता नहीं मानते, तथापि यह लेखक की शालीनतामात्र है, जैसा कि ग्रंथ के अध्ययन से ज्ञात होता है।

प्रस्तुत ग्रंथ को आठ खंडों में विभाजित किया गया है। पहले खंड में दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय सिंधुसभ्यता (हरप्पा तथा मोहेंजोदड़ों की सभ्यता) से संबद्ध है। इस अध्याय में बड़े संक्षेप में सिंधुसभ्यता का विवरण उपस्थित किया गया है। लेखक ने इसे द्रविड या अनार्य सभ्यता मानने का खंडन किया है। वे इसे वैदिक सभ्यता के ही परंपरागत विकास की एक कड़ी मानते हैं। अगले आठ अध्याय वैदिक धर्म से संबंध रखते हैं। इनमें क्रमशः आर्यों के आदिनिवास, ऋग्वेद का काल-निर्णय, वेद का अर्थानुसंधान, वेद और वैदिक साहित्य, वैदिक देवता, उपनिषद्, वेदांग, एवं वैदिक सभ्यता का विवेचन किया गया है। लेखक ने आर्यों के आदिम निवास के विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों की उद्भावना का खंडन किया है। डाक्टर अविनाशचंद्र दास तथा स्वामी शंकरानंद की साक्षी पर वे आर्यों का आदिम निवास स्थान भारत को ही मानते हैं। वे कश्मीर को आर्यों का जन्मस्थान घोषित करते हैं। इसी परिच्छेद में वे पणियों का उल्लेख करते हैं, जो अनार्य न होकर आर्य ही थे, किंतु वैदिक धर्म व्यवस्था को नहीं मानते थे। ये लोग ही फयोनिशिया आदि में जाकर बसे थे। मोहेंजोदड़ो की सभ्यता इन्हीं पणियों की समृद्ध दशा का संकेत करती है। ऋग्वेद के काल के विषय में भी लेखक ने स्वतंत्र

भारतीय मत प्रदर्शित किया है। वे मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए स्व० तिलक के मत को ही विशेष वैज्ञानिक मानते हैं तथा ऋग्वेद का काल ईसा से ४००० वर्ष से बाद का मानने को तैयार नहीं। अगले परिच्छेदों में वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांगों का परिचय है। वैदिक देवताओं तथा वैदिक सभ्यता पर दो स्वतंत्र परिच्छेद प्रस्तुत किये गये हैं। इस खंड के दसवें परिच्छेद में पारसी धर्म का विवरण भी उपस्थित किया गया है।

दूसरे खंड में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में वैदिकोत्तर भारत का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। तदनंतर रामायण, महाभारत, तथा भगवद्गीता पर तीन परिच्छेद हैं। रामायण वाले परिच्छेद में रामायण-कालीन सांस्कृतिक चित्र तथा आर्य एवं अनार्यों का संघर्ष-शीर्षक अंश विशेष महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता के संबंध में अपने विचार प्रकट करते समय लेखक ने महात्मा गांधी तथा योगी अरविंद के बहुमूल्य विचारों को देकर इस परिच्छेद को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इस खंड का अंतिम परिच्छेद 'यहूदी धर्म' पर है। संक्षेप में यहूदी धर्म के उद्भव एवं विकास का ऐतिहासिक विवरण तथा उनकी धार्मिक मान्यताओं का संकेत किया गया है।

अगला खंड १० परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें आरंभ के ८ परिच्छेद भारतीय विचारधारा से संबद्ध हैं। बाकी दो परिच्छेदों में कनफ्युशियस तथा ता-ओ के दर्शनिक एवं धार्मिक विचारो को उपस्थित करते हुए, चीन के प्राग्बौद्ध धर्म का संकेत किया गया है। भारतीय विचारधारा से संबद्ध परिच्छेदों में जैन तथा बौद्धधर्म के पूर्व के भारत की सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण करते हुए जैनधर्म तथा बौद्धधर्म का ऐतिहासिक, धार्मिक तथा दार्शनिक उपन्यास मिलता है। इसी खंड में दो परिच्छेद तत्कालीन नास्तिक दर्शन तथा आस्तिक दर्शन पर हैं। आस्तिक दर्शन में वे सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का विचार करते हैं, जैसा कि भारतीय दर्शन के पंडितों में प्रसिद्ध है। षट् आस्तिक दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन सांख्य ही माना जाता है। इस प्रकार इस परिच्छेद में केवल सांख्य का विवेचन प्रस्तुत करना लेखक के इस मंतव्य को स्पष्ट कर देता है कि उसने इस ग्रंथ का खंड-विभाजन ऐतिहासिक आधार पर किया है।

अगला खंड बुद्धोत्तर काल के भारत का धार्मिक इतिहास है, जिसमें अंतिम परिच्छेद में ईसाई धर्म का विवेचन किया गया है। हिंदू-धर्म के रूप को समझने के लिए यह खंड अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पुराणों का परिचय देते हुए उन जैन एवं बौद्ध-

पुराणों का भी संकेत किया है, जो ब्राह्मण पुराणों के ढंग पर बने थे। आगे के परिच्छेदोंमें शैवमत, शाक्तमत, सौरमत तथा गाणपतमत का विवेचन किया गया है। गाणपतमत का संकेत करते समय ग्रंथकार ने गणेश जी के विकास के विषय में दो विरोधीमतों को प्रस्तुत किया है। विद्वानों का एक दल गणेश को अनार्य देवता मानता है, जब कि उपाध्याय जी उन्हें आर्य देवता ही घोषित करते हैं। पर इतना तो निश्चित है कि गणेश जी का वैदिक साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं है, किंतु पौराणिक काल में आकर वे देवताओं में अग्रणी बन गए हैं। अगले परिच्छेद में धर्मशास्त्र का परिचय देते हुए स्मृतियों के संबंध में आवश्यक जानकारी दी गई है।

पांचवें खंड के प्रथम अध्याय में इस्लाम धर्म का विवरण उपस्थित किया गया है। इसमें कुरआन के सिद्धांतों का परिचय तथा इस्लाम धर्म के तत्तत् संप्रदायों का उल्लेख है। शेष भाग में शंकराचार्य के अद्वैतवाद, योगमार्ग, वैष्णव या भागवतमत, शैव संप्रदाय, वैष्णवमत, तथा परवर्ती सुधारक और उनके पंथो का परिचय देते हुए कबीर पंथ, रैदासी पंथ, दादू पंथ आदि पंथों तथा सिख धर्म का विवरण दिया गया है। इस प्रकार इस खंड के शेष आठ परिच्छेदों में ईसा की आठवीं शती से लेकर १५वीं-१६वीं शती तक के भारतीय धर्म का ऐतिहासिक विकास उपस्थित किया गया है।

अगले खंड में आधुनिक युग के विभिन्न धार्मिक उत्थानों का संकेत किया गया है। इसमें जापान के शिंतो धर्म पर भी एक परिच्छेद है। शेष परिच्छेदों में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, राधास्वामी-मत, थियोसोफिकल सोसायटी, स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद एवं रामतीर्थ के आध्यात्मिक संदेशों और दार्शनिक उद्भावनाओं का सुष्ठु आलेखन है।

ग्रंथ के शेष दो खंड संस्कृति से संबंध रखते हैं। इनमें प्रथम खंड के चार परिच्छेदों में भारतीय संस्कृति की समस्त विशेषताओं का संकेत करते हुए एक परिच्छेद वर्णाश्रम धर्म पर भी दिया गया है। अंतिम खंड में वर्तमान काल के भारतीय रीति-रिवाज, वेश-भूषा, रहन-सहन, व्रतोपवास, एवं सामाजिक रूढ़ियों का विवरण उपस्थित करने के बाद भारतीय संस्कृति के आधुनिक उन्नायकों—लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय जी, कवींद्र, महर्षि रमण, योगिराज अरविंद, स्वामी शिवानंद, डॉ० राधाकृष्णन, तथा डॉ० भगवानदास के महत्त्वशाली व्यक्तित्वों का अंकन पाया जाता है। अंतिम दो अध्याय क्रमशः गांधीवाद एवं सर्वधर्म-समन्वय पर हैं। जिनमें 'सर्वधर्मसमन्वय' शीर्षक परिच्छेद को समस्त ग्रंथ का निर्वहण या उपसंहार कहा जा सकता है।

यद्यपि ग्रंथ का नाम 'विश्व-धर्म दर्शन' है, तथा इस ग्रंथ में भारतीय धर्मों के अतिरिक्त अन्य धर्मों का भी विवेचन किया गया है, तथापि ग्रंथ का अधिकांश भारतीय संस्कृति तथा धर्म की कहानी से संबद्ध है। इस दृष्टि से इस ग्रंथ को भारतीय संस्कृति तथा धर्म के विकास का एक धारावाहिक इतिहास भी कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि यहाँ धर्म कभी भी विद्वेष का कारण नहीं रहा है। धर्म के विषय में भारतीय सदा सहिष्णु रहा है। यही कारण है, भारतीय संस्कृति को धर्म के नाम पर होने वाली उस नृशंसता ने कभी कलंकित नहीं किया है, जो ईसाई तथा इस्लामी धर्म के इतिहास में काले धब्बों के रूप में दिखाई पड़ती है। इस दृष्टि से भारतीय धर्म 'विश्व-धर्म' का आदर्श रूप कहा जा सकता है। आज जब भारतीय गणतंत्र ने अपने आपको धर्म निरपेक्ष राष्ट्र के रूप में न केवल सिद्धांततः अपितु व्यवहारतः भी प्रमाणित कर दिया है, भारत के प्रत्येक नागरिक का यह आध्यात्मिक कर्तव्य है कि वह धार्मिक समन्वय-भावना का प्रचार-प्रसार विश्व के कोने कोने में करे। लेखक ने इस महान् यज्ञ में जो हाथ बँटाया है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। साथ ही इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन के लिए बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् का प्रयास भी स्तुत्य है।

—भोलाशंकर व्यास

समीक्षार्थ प्राप्त

भारत के प्राचीन गणराज्य, भागीरथ दुबे 'गौतम", गौतम प्रकाशन इंदौर, मूल्य २)

साहित्य चिंतन, इलाचंद्र जोशी, अजंता प्रेस लि०, पटना - ४, मूल्य ३॥)

सर्वोदय, गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, मूल्य २॥)

खट्टर काका क तरंग, श्री हरिमोहन झा, अजंता प्रेस लि०, पटना - ४, मूल्य ४)

गधे, हबीब तनवीर, आत्माराम ऍंड संस, दिल्ली - ६, १।)

चरित्र निर्माण की कहानियाँ, राजबहादुरसिंह, आत्माराम ऍंड संस दिल्ली - ६, १।)

एक था राजा एक थी रानी, चिरंजीत, आत्माराम ऍंड संस, दिल्ली - ६, १।)

सूम का घड़ा, संतोष गार्गी, आत्माराम ऍंड संस, दिल्ली—६, १)

नटखट के गीत, चिरंजीत, आत्माराम ऍंड संस दिल्ली—६, १)

उत्तर भारत की लोक कथाएँ—१ सावित्री देवी वर्मा आत्माराम ऍंड संस, दिल्ली-६, १।)

,,	,,	भाग २	,,	,,	,,	१।)
,,	,,	भाग ३	,,	,,	,,	१।)

प्राग्वाट इतिहास (भाग १) अरविंद बी० ए , श्री प्राग्वाट इतिहास प्रकाशन-समिति राणी (मारवाड़) २१)

बूढ़े बच्चे—रामचंद्र तिवारी तथा सिद्धि तिवारी, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, १॥)

कथामंजरी-नागार्जन तिवारी, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली १)

व्रज की लोक कथाएँ (१) आदर्श कुमारी यशपाल, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली १।)

पंजाब की लोक कथाएँ, प्रीतम पंछी तथा वनजारा वेदी, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली १)

बंगाल की लोक कथाएँ, मन्मथनाथ गुप्त, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली १॥)

कुमुदावली, श्री० गो० प्र० कुमुदेश, चौधरी गढ़ैया आगामीर, लखनऊ, १॥)

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, श्री शिवप्रसाद सिंह, साहित्य भवन लि० इलाहाबाद, ५)

निवेदन, तेजकरण बोथरा, धनराज अग्रवाल, हनुमान गेट, लाडनूं , बिना मूल्य

सूरदास: एक विश्लेषण, विभिन्न, पब्लिकेसंस डिवीजन, दिल्ली—८ ।=)

टीटो की कहानी, ब्लादिमीरदेदीयर, कैपिटल न्यूज ऐंडफीचर्स, २५यार्कहोटल,नई दिल्ली ३॥)

छीत स्वामी, गो० श्री व्रजभूषण शर्मा, विद्याविभाग, कांकरोली, २)

संघर्षों के राही, रामगोपाल शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा, ॥)

देशवंदना, भगवती प्रसाद सिंह 'शूर' भगवती प्रसाद सिंह 'शूर', छपरा, ।)

अहिंसक समाजवाद की ओर—गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, २)

अवधी कोष, श्री रामाज्ञा द्विवेदी, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद, ७॥)

लोहा सिंह, श्री रामेश्वर सिंह काश्यप, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना ४, १।)

सावित्री (खंड काव्य) श्री गौरीशंकर मिश्र ,, ,, १॥)

चिनगारी, पं० छबिनाथ पांडेय ,, ,, ३॥)

अंतररागिनी, श्री चंद्रिका श्रीवास्तव, राष्ट्रीय भाषा परिषद, देहली १।)

धार्मिक कथाओं के मौलिक अर्थ, श्रीत्रिवेणी प्रसादसिंह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,पटना, ३)

नीहारिकाएँ, डा० गोरखनाथ सिंह, ,, ,, ४।)

ग्रह नक्षत्र, श्री त्रिवेणी प्रसाद सिंह ,, ,, ४।)

राजकीय व्यय-प्रबंध, श्री गोरखनाथ सिंह ,, ,, १॥)

रबर, श्री फूलदेव सहाय वर्मा ,, ,, ५॥)

गो सेवा, गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद १॥)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
वर्ष : ६० संवत् : २०१२ अंक : १

विविध

भारतीय पुरातत्व विवरण

भारतीय पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, "इंडियन आर्केयालाजी १६५४-५५ (ए रिव्यू)" गत वर्ष के समान इस वर्ष भी ठीक समय पर प्रकाशित हुई है। इसका एक हेतु जनता को अपने कार्य से सूचित करने का भी है। पर इसका मूल्य और प्राप्ति स्थान रिपोर्ट में नहीं लिखा है और प्राप्ति में कठिनाई होती है।

इस रिपोर्ट की मुख्य मुख्य बातें यहाँ संक्षेप में दी जा रही हैं—

नवासा, जिला अहमद नगर—खुदाई में पाँच भिन्न-भिन्न कालों की सभ्यता की वस्तुएँ मिली हैं; (१) बड़े पत्थर-शस्त्र दो विभागों में, (२) उनसे छोटे नए पत्थर-शस्त्र दूसरे नए काल के, (३) आरंभिक इतिहास काल के, (४) रोमन-सातवाहन काल के, (५) आरंभिक मुस्लिम काल के। इन खुदाइयों में प्राप्त वस्तुओं से पता चलता है कि इन कालों में मनुष्य की सभ्यता कैसी थी।

रूपड़, जिला अंबाला—यहाँ खुदाई पहले से जारी है। इस वर्ष कब्रिस्तान की खुदाई हुई। रूपड़ से ५ मील दक्षिण में सलोड़ा तथा बाड़ा ग्रामों में खुदाई हुई। इनसे हड़प्पा सभ्यता के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ा।

रंगपुर, जिला झालावाड़—यहाँ की नई खुदाई से हड़प्पा सभ्यता का संबंध उसके पीछे वाली सभ्यता से प्रगट हुआ।

प्रकाश, जिला पश्चिम खानदेश—यहाँ की खुदाई से, (१) १००० ई० पू० के स्तर की, तथा (२) ५०० से १०० ई० पू० काल की, (३) १०० ई० पू० से ४०० ई० सन् तक के स्तर की, तथा (४) सन् ई० ५०० के बाद की सभ्यताओं के इतिहासों पर प्रकाश पड़ा।

पुराना किला, नई दिल्ली—यहाँ की खुदाई से प्रगट हुआ कि यहाँ १०००ई० पूर्व में भी बस्ती थी जब ताँबा धातु का ही व्यवहार हो पाया था। सन् ६०० ई० पूर्व में लोहे का उपयोग जारी हो चुका था। मुद्राएँ, ठप्पेवाली और ढली, व्यवहार में आ चुकी थीं। फिर दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में यहाँ मथुरा का राज्य हुआ और प्रथम शताब्दी ई० में यहाँ यौधेयों का और दूसरी शताब्दी ई० में कुशन लोगों का राज्य हुआ। यहाँ की खुदाई अभी पूरी नहीं हो पाई है।

मथुरा में पुरातत्व-ज्ञान-वृद्धि की बहुत आशा है। इस साल एक छोटी-सी खुदाई ४२ फुट गहरी आरंभ हुई है जो ६०० ई० पूर्व से ६०० ई० तक के काल को दर्शाती है और अंत तक पहुँचती है।

कौशांबी जिला इलाहाबाद—यहाँ खुदाई कई वर्षों से जारी है। इस साल की खुदाई में नई इमारतें, मुद्राएँ ढालने के साँचे तथा हस्ताक्षर या व्यक्ति-चिह्न प्रगट करने की मुहरें, जिनमें नए-नए राजाओं के नाम मिलते हैं, बहुत संख्या में मिली हैं।

कुमराहर, जिला पटना (पुराना पाटलीपुत्र)—मौर्यकालीन राजसभाभवन की खुदाई फिर आगे बढ़ाई गई। इस प्रधान सभाभवन में कुल ८६ खंभे निकले। यह भवन द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जला दिया गया था।

तामलुक (ताम्रलिप्ति), जिला मेदिनीपुर—खुदाई से जान पड़ा कि यह नगर नवीन पाषाण युग से आधुनिक कालतक बराबर बना रहा है पर कभी कभी बीच में उजड़ भी जाता था। प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० में इसका रोम नगर से व्यवसाय-संबंध था।

नागार्जुन कोंडा—यहाँ अक्टूबर १९५४ से खुदाई तीव्रता से चल रही है। सात स्थानों पर खुदाई में विहारों के भग्नावशेष मिले हैं। एक बड़े मंदिर के भग्नावशेष और पदार्थ २००-५०० स० ई० के समय के मिले हैं।

सिरपुर, जिला रायपुर, म० प्र०—यहाँ खुदाई में दो बड़े विहार और बहुत से छोटे विहार मिले हैं। इनका समय सन् ई० की आठवीं शताब्दी है। २०० वर्ष बौद्धों के यहाँ रहने के बाद शैवों ने उन्हें यहाँ से निकाल दिया। इस स्थान का त्याग ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। यहाँ बहुत सा पुरातत्वोपयोगी सामान पाया गया है।

शिलालेख

इस विभाग में १७ ताम्रपत्र और १०० से अधिक शिलालेखों की नकलों को पढ़ा गया है जिनमें से कुछ प्रधान लेखों का वर्णन रिपोर्ट में है। उनसे कोई बड़े महत्व की बात प्रगट नहीं होती। स्थानाभाव से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है।

कुछ महत्व की बातें

गुजरात की हड़प्पा और दूसरी आरंभ की बस्तियों के अध्ययन से यह सिद्धांत निकलता है कि हड़प्पा वाले समुद्र मार्ग से आकर नदी मुहानों के बंदरगाहों पर ठहरे और वहाँ से नदी के किनारे किनारे भीतर आकर किनारों पर ही बस गए ताकि उन्हें पानी की सुविधा रहे। सारनाथ, एलीफेंटा, पश्चिमीय भारती गुफाएँ (कारला, नाजा और बेडसा), कन्हेरी और बीजापुर के पिक्चर पोस्टकार्ड छप चुके हैं और दूसरे छपनेवाले हैं।

— पंड्या बैजनाथ

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।